I.S.S.N. 0975-6531

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

नवंबर-दिसंबर 2023 * भाग 39 - अंक 6

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

मंदिर के बाहर लगे शिलालेख से पता चलता है कि यह 1800 साल पुराना है। शालिवाहन घराने के राजा कर्णदेव ने इसका निर्माण करवाया था। यह मंदिर 51 शक्तिपीठों में शुमार है। आदि शंकराचार्य ने महालक्ष्मी की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा की थी।

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष व प्रधान-सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध-सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

I.S.S.N. 0975-6531

वैचारिकी

वर्ष 39 : अंक 6

(धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला)

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

नवम्बर-दिसम्बर 2023 ● कार्तिक कृष्ण 4, पौष कृष्ण चतुर्थी, वि. सं. 2080 ● रु. 50

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** – 03
- **सम्पादकीय** – 05
- **धन की देवी लक्ष्मी : एक शोध विमर्श** – देवर्षि कलानाथ शास्त्री 11
- **भौतिकी और प्रारब्ध** – मधु बाबू प्रख्या 15
  क्या भौतिकी के प्रयोग से प्रारब्ध-परिवर्तन हो सकता है?
- **34,500 ईसा पूर्व बृहद्रथ द्वारा महासागर के स्तर में गिरावट का अवलोकन** – एआर. रूपा भाटी 25
- **बौद्ध जातक कथायें : प्रबंध-शास्त्र की अमूल्य धरोहर** – डॉ. जसवीर चावला 32
- **रामचरितमानस की एक प्राचीन प्रति** – डॉ. रामकिशन पोहिया 36
- **'कामायनी' की प्रतीक-संरचना** – डॉ. परम प्रकाश राय 38
- **आधुनिक काल में कला-विकास की यात्रा** – डॉ. मोनिका चौधरी 41
  (जयपुर कला विद्यालय का विशेष संदर्भ)
- **ध्रुपद, कबीर और नवाचार** – डॉ. प्रियंका 50
- **लोक साहित्य में सांस्कृतिक मूल्य** – डॉ. किशोर काबरा 54
- **लोकगीतों के रसिया : देवेंद्र सत्यार्थी** – डॉ. शकुंतला कालरा 63
- **बुंदेली लोक-कवियों द्वारा जन-जीवन की अभिव्यक्ति** – डॉ. उत्तम कुमार शुक्ल 73
- **वाचिक परंपरा में कुमाउनी कहावतें** – डॉ. हेमचंद्र दुबे 'उत्तर' 78
- **बिहार का महापर्व 'छठ'** – राजेंद्र परदेसी 82
- **पाठक मंच** 85

मोको कहा ढूंढे रे बन्दे, नदी में बहती पिपासु आकाशगंगा, मेहरून्निसा परवेज की नारी-संवेदना, कश्मीर के प्राचीन मंदिर, वृंदावन का प्राचीनतम मंदिर, एक रहस्यमय शिव मंदिर।

- **प्रतिस्वर** 95

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता होगा।

योगः कर्मसु कौशलम्

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700087
दूरभाष : 033-71001614
मो. : 09830559364
ई-मेल :
bvm.vaichariki@gmail.com
वेबसाइट :
www.bharatiyavidyamandir.com

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 450/- रुपये
द्वैवार्षिक 900/- रुपये

सदस्यता शुल्क भेजने हेतु :–

Payee's Name :
BHARATIYA VIDYA MANDIR
Current A/c.No. : 32030320176
Bank : State Bank of India
Branch : New Market
IFSC Code No. : SBIN0004662

अध्यक्षीय

सामाजिक जीवन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए मानवीय नीति वाक्यों का पालन आवश्यक है। मानवीय मूल्यों को दृढ़ता और गम्भीरता से परिवार और समाज में प्रतिरोपित और स्थिर करने के लिए इनका बार-बार विहंगावलोकन और विचार-विमर्श आवश्यक है। इन मूल्यों को जीवन में स्थापित करने के लिए लघुकथाओं एवं बोधकथाओं तथा महापुरुषों के प्रेरक प्रसंगों के माध्यम से आमने-सामने बैठकर अथवा दृश्य-श्रव्य साधनों के माध्यम से बाल्यकाल से ही संस्कार-निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होनी चाहिए। हमें समाज के साधारण वर्ग के बीच भी इसे गहराई से प्रतिरोपित करना होगा। भारतीय जीवन मूल्य सार्वभौमिक मानव मूल्यों पर आधारित हैं। इनकी चर्चा अलग-अलग समय पर हमारे शास्त्रों और पुराणों के कथानकों में परिलक्षित होती रही है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति' से लेकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक के सूत्र-वाक्य इन्हीं सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति हैं।

आज हमारी संस्कृति पर आघात और सांस्कृतिक प्रदूषण से भय की स्थिति में हैं। हमारे समाज और संस्कृति पर बाह्य और आंतरिक प्रहार की स्थिति दिखाई देती है। सनातन संस्कृति पर एक तरह का दबाव-सा अनुभव किया जा रहा है। कोई समाज तभी तक स्वस्थ, सबल और गतिशील रहता है जब तक वह अपनी संस्कृति के साथ आगे बढ़ता है। ज़िंदगी के हर क्षेत्र में, चाहे वह दैनिक जीवन हो, कारोबारी सम्बंध हो, आपसी पारिवारिक-सामाजिक व्यवहार हो अथवा जन-साधारण के साथ हमारा सम्पर्क और अंतर्क्रिया हो, हमारी संस्कृति ही हमारी पहचान निर्मित करती है। हमें एक ओर स्थिरता (स्टेबिलिटी) और दूसरी ओर परिवर्तन और गतिशीलता (चेंज एण्ड डाइनैमिज़्म) की आवश्यकता होती है। संस्कृति गंगा की तरह है। इसके किनारे स्थिर हैं पर इसका पानी हर समय नया है। हमारा कर्तव्य है कि हम इस प्रवाह को अमल-विमल और अक्षुण्ण रखें। इसमें प्रदूषण न आने दें।

वैसे तो हर काल में अपनी संस्कृति का स्वरूप बदलता रहता है और यही संस्कृति का नयापन है। लेकिन जो हमारे जीवन के मूल्य हैं, वे हमारी संस्कृति सरिता के किनारे हैं। मूल्यों के आधार पर ही संस्कृति का प्रवाह और प्रभाव बना रहता है। वही समाज की जीवंतता है और वही समाज को आगे से आगे नई-नई उपलब्धियों और ऊंचाइयों पर पहुंचाने में चालक-शक्ति का काम करती है।

राष्ट्रीय भावना भी तब बलवती होती है जब राष्ट्र की संस्कृति उसके निवासियों/नागरिकों को संस्कारित करती हो। भारतीय समाज अलग-अलग क्षेत्रों में अपना भिन्न-भिन्न रूप लिये रहता है पर उसमें एक आंतरिक संगति और ऐक्य हमेशा दिखाई देता है। अपनी अतुलनीय शैली में इसी ऐक्य को वाणी देते हुए रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि 'जो जल गंगा में है, वही मेरी इस लुटिया में है।' विभिन्नता और अनेकता में एकता का सूत्र इसी आंतरिक और भावात्मक ऐक्य से आता

है। एक उद्यान में तरह-तरह के फूल होते हैं, पर ये विभिन्न प्रकार के पुष्प मिलकर अपने वैविध्य के सौंदर्य और संगति से उद्यान को शोभायमान करते हैं। समाज और देश विकसित होता रहे, सुंदर से सुंदरतम होता रहे, इसका प्रयास हम सबको करना है।

जीवन की समस्याओं के निदान हेतु नीतिशास्त्र को समझना और समझाना भी हमारा एक विशेष दायित्व है, विशेषकर समाज के प्रबुद्ध वर्ग के व्यक्तियों द्वारा। समाज के सम्पन्न वर्ग को इस कार्य में अनुदान द्वारा तथा अन्य सभी वर्गों को अपने यथोचित योगदान द्वारा अपना अधिकतम सम्भव सहयोग प्रदान करना चाहिए। बल्कि उच्च वर्ग को अपने वैयक्तिक उदाहरण द्वारा इन नीति-नियमों और आचार-विचारों को पुष्ट करना चाहिए।

हमारी शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं, सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं और तमाम मठों और मंदिरों को सांस्कृतिक आयोजनों तथा विभिन्न समारोहों आदि के माध्यम से विचारों के एक फलक्रम के रूप में कार्य करना चाहिए। इसके साथ-साथ हमें समाज के दबे हुए साधनहीन वर्ग के बीच, विशेषकर उम्रदराज़ और दिव्यांग लोगों की सेवा में अपना यथासम्भव योगदान देना चाहिए। यह कार्य भी हमारी सनातन संस्कृति का केंद्रीय तत्व है।

प्राकृतिक वातावरण को शुद्ध और अप्रदूषित रखने और परिस्थितियों के संतुलन को बनाये रखने के लिए लोगों में एक तरह की सचेतनता और जन-जागृति लाने के लिए जगह-जगह पर पर्यावरण संरक्षण अभियान चलाये जाने चाहिए। पर्यावरण-अनुकूल आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी से जन-साधारण को अधिकाधिक परिचित कराया जाना चाहिए, ताकि पारम्परिक मूल्यों और आधुनिक विचारों के अनुकूलतम संयोग से हम अपने देश के विकास में अपना अधिकतम संभव योगदान दे सकें।

❑❑

– डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

नोबेल शांति पुरस्कार 2023 ईरान की सामाजिक कार्यकर्ता नरगिस मोहम्मदी को प्रदान किया गया है। नार्वे नोबेल समिति के अध्यक्ष बेरिट रीस एण्डरसन ने यह घोषणा 6.10.2023 को ओस्लो शहर में की। नरगिस मोहम्मदी वर्तमान में जेल में बन्द है। ईरान में महिलाओं के उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष करने के लिए नरगिस मोहम्मदी विश्व में मशहूर हैं। स्टाकहोम में स्वीडिश अकादमी ने घोषणा की कि नोबेल शांति पुरस्कार, 2023 ईरानी कार्यकर्ता नरगिस मोहम्मदी को ईरान में महिलाओं के उत्पीड़न के खिलाफ लड़ाई और सभी के लिए मानवाधिकारों और स्वतंत्रता को बढ़ावा देने की उनकी लड़ाई के लिए प्रदान किया गया है।

अकदामी ने एक आधिकारिक बयान में कहा– उन्हें अपने बहादुरीपूर्ण संघर्ष के लिए जबरदस्त व्यक्तिगत कीमत चुकानी पड़ी है। कुल मिलाकर प्रशासन ने उन्हें 13 बार गिरफ्तार किया। 5 बार दोषी ठहराया और 31 साल जेल व 154 कोड़ों की सजा सुनाई। सुश्री मोहम्मदी वर्तमान में भी जेल में बन्द हैं। नरगिस मोहम्मदी का यह जीवन-संघर्ष अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए प्रेरणास्त्रोत है, जो समाज की बेहतरी के लिए अभी भी विश्व भर में सामाजिक विकृत रूढियों एवं सत्ता की गलत नीतियों के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

सम्पादकीय

संस्कार, संगठन और विकास

संस्कार, संगठन और विकास के परस्पर संबंधित होने का कारण है कि ये तीनों समाज के संदर्भ में हैं, व्यक्ति के संदर्भ में नहीं। एकांतजीवी एक व्यक्ति के लिए संस्कार, संगठन और विकास का कोई अर्थ नहीं है, जबकि बहुत से व्यक्तियों को लेकर जब समाज बनता है तो उसमें इन तीनों की आवश्यकता पड़ती है, बल्कि कह सकते हैं कि इन तीनों के आधार पर ही समाज का निर्माण होता है और इस निर्माण के लिए वर्तमान में संस्कार और संगठन की अपरिहार्यता अनुभव की जा रही है, विशेषकर देश के बहुसंख्यक समाज में जो पारस्परिक विरोध-वैमनस्य, ऊंच-नीच से ग्रस्त होकर बिखरा हुआ है और इस बिखरेपन को अपना वैविध्य-वैशिष्ट्य बताकर गौरवान्वित हो रहा है और उसे यह भी स्मरण नहीं है कि उसे कथित वैविध्य के कारण ही उसे हजारों वर्ष तक गुलाम रहना पड़ा, अस्तु।

संस्कार : दो चीजें हैं, एक प्रकृति और दूसरी संस्कृति। प्रकृति स्वयंभू है, वह स्वतः हुई है, इसको किसी ने बनाया नहीं है, यह किसी के द्वारा कृत नहीं है। इसमें इसके द्वारा सृष्टि हुई जिसकी एक संस्कृति है। सृष्टि के विभिन्न घटकों की भी अपनी-अपनी प्रकृति है। यहां प्रकृति से तात्पर्य किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्राकृत रूप से है अर्थात प्रकृति से उसे जो रूप, गुण, स्वभाव आदि मिले हैं, यह प्रकृति स्वतः है। जबकि इसके विपरीत संस्कार-संस्कृति मनुष्यकृत हैं। एक मानव समूह जब अपनी जीवन परिस्थितियों के अनुसार अथवा अपनी विवेकपूर्ण तार्किकता का उपयोग करते हुए अथवा किसी उदाहरण की उपयोगिता के अनुकरण पर जब स्वयं के लिए कुछ जीवन-मूल्य निर्धारित कर उनको अनुशासन या परंपरा के रूप में स्वीकार करता है तो वह अपने लिए एक संस्कृति का निर्माण कर रहा होता है। संस्कार शब्द में 'सम्' का अर्थ है सम्यक अर्थात अच्छा या उपयुक्त और 'कार' का अर्थ है कार्य, कृति, कृतित्व। तो, संस्कार से तात्पर्य है अच्छा अथवा उपयुक्त व्यवहार या आचरण। इस प्रकार सर्वांगीण अथवा सम्यक् विचार व अनुभव के पश्चात निर्धारित कृतित्व ही संस्कार है और समस्त समाज के लिए उसकी स्वीकृति या मान्यता संस्कृति है। सदगुणों अर्थात अच्छी आदतों या आचरणों को बढ़ाना एवं दोषों अर्थात बुरी आदतों को निकाल फेंकना ही संस्कारित होना है। बच्चों में इसका बीजारोपण माता-पिता अथवा अभिभावकों के द्वारा अपने स्वयं के आचरण एवं विधि-निषेध से होता है। विधि-निषेध की बजाय बड़ों का आचरण ही बच्चों को सम्यक रूप से संस्कारित करता है, क्योंकि छोटे, बड़ों का अनुकरण करते हैं, शिक्षक अपने द्वारा प्रदत्त शिक्षा से उसे दृढ़ कर आगे बढ़ाता है। अच्छे व्यक्तियों के संसर्ग एवं प्रेरक पुस्तकों के अध्ययन से इसमें अभिवृद्धि होती है।

इस तरह समाज में जीवन मूल्यों का निर्धारण और व्यवहार का अनुशासन ही संस्कार है

अथवा कहें कि संस्कार की नींव ही अनुशासन है। प्रत्येक कृतित्व अथवा कार्य या आचरण के लिए यदि अनुशासन या नियम नहीं बनाया तो वह कृतित्व अपूर्ण रह जाता है और कभी भी उसके प्रति लापरवाही हो सकती है। कृतित्व में अनुशासन का पालन कर जो जीवन को सार्थकता प्रदान करता है उसी को संस्कारित व्यक्ति कहा जाता है। यह ध्यान रखना होगा कि संस्कारों का बीजारोपण बाल्यावस्था में ही ठीक से संभव है। जैसे एक कुम्हार गिली मिट्टी को ही इच्छित आकार के बर्तन में ढाल सकता है, सूखी को नहीं। संस्कार के संदर्भ में हम कृषि कर्म को उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं। जिस प्रकार कृषक बीजारोपण के लिए एक ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल करता है, जोतकर पोली बनाता है यानि उसे कल्चर्ड अथवा संस्कारित करता है और उसमें बीज डालकर वांछित फसल प्राप्त करने के अनुकूल बनाता है। वैद्य लोग संस्कार से ही जीवन के लिए घातक विष को रोगनाशक बनाकर अमृत तुल्य बना देते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति को संस्कारित कर उसे जीवन और समाज के अनुकूल बनाया जाता है अर्थात उसे सामाजिक बनाया जाता है। जन्म से मनुष्य एक पशु या जीव से अधिक नहीं है। संस्कार से ही वह एक पशु से अधिक होकर जीवन को सार्थक बनाता है। संस्कार में चरित्र, शिष्ट आचरण, सद्व्यवहार व पारस्परिकता जैसी मूल्यवत्ता रखने वाली कई बातें समाहित हैं। केला खाना प्रकृति है। केला खाकर छिलका सड़क पर फेंकना विकृति है। केला खाकर छिलका कूड़ेदान में फेंकना तथा अन्य व्यक्ति द्वारा सड़क पर फेंके गये छिलके को कूड़ेदान में डालना, यह संस्कृति है। इसी तरह भूख लगने पर खाना, प्रकृति है। अन्य व्यक्ति के लिए रखे भोजन को स्वयं खा जाना, विकृति है। भगवान को नैवेद्य अर्पित कर गाय व अतिथि को भोजन देकर स्वयं खाना, संस्कृति है।

हमारे यहां प्राचीनकाल से ही संस्करण का आग्रह रहा है और अग्रलिखित 16 संस्कारों का विधान रहा है- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, विद्यारम्भ, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। हमारे यहां संस्कारों को इतना महत्त्व दिया गया है कि इनका प्रारंभ गर्भाधान से ही आवश्यक समझा गया। इनमें से अंतिम को छोड़कर सभी 15 संस्कार व्यक्ति को सांसारिक निर्वहन के लिए सक्षम और योग्य बनाकर उसे चरित्रवान एवं सामाजिक आदर्श के अनुकूल बनाने का उद्देश्य रखते हैं। एक संस्कारित व्यक्ति जहां स्वयं के जीवन को सार्थक बना पाता है वहां वह समाज और देश के निर्माण तथा विकास में भी उल्लेखनीय योगदान कर पाता है। उक्त 16 संस्कारों के कुल आशय को इस तरह समझ सकते हैं कि जिन आचरणों व व्यवहारों की व्यापक सामाजिक स्वीकृति ही संस्कार हैं।

संगठन : 'संगठन' शब्द में सम् का तात्पर्य सम्यक या सर्वांगीण रूप से अथवा अच्छी प्रकार से है और गठन का तात्पर्य ग्रंथन, जुड़ना अथवा सम्बद्ध होने से है। इस तरह संगठन का तात्पर्य हुआ अच्छी प्रकार से सम्बद्ध अथवा जुड़े हुए होना। बिखरे हुए अथवा अलग-अलग को परस्पर जोड़ने या संबद्ध करने की आवश्यकता से संगठन की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। किसी भी संगठन की संरचना, उसके गठन के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की जाती है। इस तरह किसी उद्देश्य को लेकर किसी संगठन का निर्माण होता है। इस निर्माण के लिए उपयुक्त संसाधनों की आवश्यकता होती है जिनकी परीक्षा भली-भांति की जानी चाहिए और फिर उनका संगठन की संरचना में उपयोग करना चाहिए। संगठन की उपयुक्त संरचना ही, संगठन के संसाधनों में अच्छा समन्वय कर सकती है और अनुकूलतम परिणामों को प्राप्त करने में सहायक होती है। इसीलिये किसी भी संगठन की संरचना का निर्माण सावधानी पूर्वक, गठन के लक्ष्यों को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए।

संगठन की संरचना से आशय किसी मानव समूह अथवा समाज में एक निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति हेतु परस्पर संबंधों एवं कार्यों की व्यवस्था से है। इस व्यवस्था में कार्यरत व्यक्तियों के परस्पर अनुशासनपूर्ण संबंधों को प्रदर्शित करने वाला कलेवर ही संगठन कहलाता है। संगठन की इस संरचना के आधार पर ही संगठन की व्यवस्था का समग्र रूप से निर्धारण होता है। फिर उसमें विधि-निषेध के संबंध स्थापित एवं विकसित होते हैं। इस तरह एक संगठन अपनी संरचना में व्यवहार और आचरण का न्यूनतम आदर्शात्मक ढांचा प्रस्तुत करता है जिसमें विभिन्न स्थितियों के बीच

एवं विभिन्न स्थितियों को धारण करने वाले व्यक्तियों के बीच संबंधों को परिभाषित कर प्रबंधकीय एवं क्रियात्मक कार्य संपन्न किये जाते हैं। समाज, संस्था, व्यावसायिक प्रतिष्ठान आदि के संगठन की संरचना इनके सदस्यों व कर्मचारियों के संबंधों को व्याख्यायित कर उन्हें संगठन के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रेरित करती है और उनके अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों को भी निश्चित करती है। एक अच्छी संगठनात्मक संरचना में पारस्परिक संवाद का प्रवाह निरंतर गतिशील रहता है और ऐसी पद्धति सुनिश्चित की जाती है कि कार्यों का निष्पादन उद्देश्य प्राप्ति में सहायक रहे।

संगठन की संरचना का निर्धारण करने से पूर्व संगठनकर्ताओं को संगठन के उद्देश्यों का निर्धारण स्पष्ट रूप से करना चाहिए जिनकी प्राप्ति के लिए संगठन का निर्माण किया जा रहा है। उद्देश्यों के आधार पर ही किसी संगठन की पहचान होती है और निर्धारित होता है कि संगठन की कौन-सी या किस तरह की संरचना निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उपयुक्त है। संगठन की संरचना के प्रयासों को विभिन्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। संगठन कई प्रकार के होते हैं, परंतु हम यहां विशेष रूप से एक सामाजिक संगठन में कार्यों अथवा क्रियाओं के निर्धारण या विभाजन पर चर्चा करें तो उसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है लोगों को संगठन अथवा संस्था से जोड़ना तथा वित्त का प्रबंध। तत्पश्चात प्रशासनिक अथवा प्रबंधकीय निकाय के अलावा विभिन्न सेवा प्रकल्पों, समाज सुधार प्रकल्पों एवं उत्पादन, वितरण, अनुसंधान आदि से संबंधित निकायों की स्थापना की जानी चाहिए और यह सबसे महत्वपूर्ण है कि इसके संचालन का भार उपयुक्ततम दक्ष व्यक्तियों को सौंपा जाये। संगठन में गतिविधियों की प्राथमिकता सुनिश्चित की जानी चाहिए। जिस प्रकार एक व्यापारिक उत्पादन संगठन में ऐसी संरचना पर बल दिया जाता है कि जिससे उत्पादन के साधनों का अनुकूलतम प्रयोग किया जा सके और न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन संभव कर न्यूनतम लागत पर ग्राहकों को बेहतर सेवा प्रदान कर व उनकी शिकायतें हों तो उनका त्वरित निपटारा कर उन्हें संतुष्ट किया जाये। ठीक इसी तरह एक सामाजिक संगठन में अपने संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करते हुए यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि संगठन की गतिविधियों में अपव्यय न हो, भ्रामक स्थितियां उत्पन्न न हों और संगठन के सदस्य संतुष्ट हों। यह कार्य-विभाजन और कार्य-शैली ही किसी संगठन अथवा संस्था की संरचना को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है और विभागीयकरण की आधारशिला है। यह नवीन एवं विद्यमान दोनों प्रकार की संस्थाओं के लिए अपरिहार्य है। इससे भ्रामक स्थितियों का अंत हो जाता है एवं अपव्यय में कमी आती है।

एक संस्था के संगठन की संरचना में कार्य-विभाजन और तत्संबंधी क्रियाओं के विश्लेषण के पश्चात अगला चरण निर्णयों के विश्लेषण से संबंधित है। इसमें इस बात पर मंथन होना चाहिए कि संगठन को कौन-कौन से निर्णय लेने हैं या संगठन को किस संबंध में निर्णय लेने चाहिए, साथ ही यह भी देखा जाये कि संगठन द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों का भावी प्रभाव क्या होगा? संगठन के निर्णय उसकी क्रियाओं या गतिविधियों पर ही आधारित होते हैं, अतः निर्णय लेते समय इन बातों या निर्धारणों का ध्यान रखा जाना चाहिए :- 1. संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति संबंधी निर्धारण। 2. निर्णयों की प्रकृति संबंधी निर्धारण। 3. प्रबंध के विभिन्न स्तरों से संबंधित निर्धारण। 4. निर्णयों से प्रभावित होने वाली क्रियाओं व गितिविधियों संबंधी निर्धारण। 5. विभिन्न निर्णयों में प्रबंधकों की भागीदारी संबंधी निर्धारण। 6. निर्णयों से प्रभावित कार्मिकों संबंधी निर्धारण। 7. निर्णय संबंधी सूचनाओं के सम्प्रेषण संबंधी निर्धारण। यहां यह भी महत्वपूर्ण है कि निर्णयों की प्रकृति एवं आवश्यकता के अनुरूप ही संपूर्ण संगठन में अधिकारों या सत्ता का केंद्रीकरण, विकेंद्रीकरण तथा कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का भली भांति निर्धारण किया जाना चाहिए।

संगठन की संरचना में संबंध विश्लेषण के अंतर्गत अंतर-वैयक्तिक संबंधों का विश्लेषण किया जाता है। जिसमें मुख्य रूप में इन बातों पर विचार किया जाता है– 1. कार्य विशेष का प्रभारी कौन है? 2. कार्य विशेष के प्रभारी किन प्रबंधों के अधीनस्थ हैं? 3. विभिन्न कार्यों के प्रभारियों में परस्पर सहयोग किस प्रकार संभव होगा तथा उसकी सीमा क्या है? इस प्रकार संगठन के प्रबंधकों, कार्यकर्ताओं एवं सदस्यों के पारस्परिक संबंध परिभाषित किये जाते हैं। इसके आधार पर ही पारस्परिक व्यवहार का निर्धारण तथा संगठन में समन्वय सुनिश्चित होता है जो कि संगठन के सुचारु

संचालन के लिए आवश्यक है। ये सब व्यापक रूप से राष्ट्रीय संगठन हेतु भी आवश्यक हैं।

विकास : विकास, अभिवृद्धि, प्रगति, उन्नति लगभग समानार्थक शब्द हैं, परंतु इनमें विकास शब्द परिवर्तन की एक प्रगतिशील व्यापक अवधारणा लिए हुए है। विकास में किसी व्यक्ति, मानव समूह या समाज तथा देश का गुणात्मक परिवर्तन अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक समाज में कुछ जीवन-मूल्य होते हैं जो उस समूह या समाज या राष्ट्र में विकास को अनिवार्य नहीं तो वांछनीय बनाते हैं। यूं तो विकास का तात्पर्य किसी भी मानव समूह में अंतर्निहित, अनभिक्त शक्तियों का अभिव्यक्त होना है, किंतु आधुनिक काल में विकास की अवधारणा को समाजों और राज्यों की प्रगति के प्रसंग में प्रयोग किया गया है। प्रगति और विकास में प्रमुख अंतर यह होता है कि प्रगति कुछ सुनिश्चित लक्ष्यों की ओर आगे बढ़ने को कहते हैं, जबकि विकास में ये लक्ष्य बाहर से लादे गये न होकर समूह की आंतरिक प्रवृत्तियों की वृद्धि के रूप में होते हैं। अस्तु, विकास प्रगति से कहीं अधिक व्यापक अवधारणा है। विकास की अवधारणा के इस अर्थ में यह स्पष्ट किया गया है कि विकास कुछ मूल्यों को आगे बढ़ाता है जो कि वांछनीय माने जाते हैं। आधुनिक काल में विकसित, अल्पविकसित और अविकसित समाजों के निर्धारण में विकास की विभिन्न कसौटियों को आधार बनाया जाता है जो कि संबंधित समाज की मान्यताओं, आस्थाओं और वर्तमान परिवेश की आवश्यकताओं के आधार पर निर्मित होती हैं। इस प्रकार का निर्धारण किसी समाज की व्यवस्थाओं के स्तर को दर्शाता है। इससे सामाजिक व्यवस्थाओं की प्रगति की दिशा भी निर्धारित होती है जिसे इस रूप में देखा जाता है– (1) भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न जीवन मूल्य प्रचलित हैं। अस्तु, अपने-अपने जीवन मूल्यों के आधार पर वे सामाजिक विकास की व्याख्या करते हैं। जैसे यदि पाश्चात्य समाज को ही विकसित समाज माना जाये तो एशिया की अनेक विकसित सभ्यताओं वाले समाज अविकसित माने जायेंगे। (2) इस विषय पर मतभेद है कि कौन से मूल्यों को विकसित जीवन का चिह्न कहा जाना चाहिये। उदाहरण के लिये आधुनिक पाश्चात्य समाज में व्यक्तिवाद, अवसरवाद, धनलोलुपता, भौतिकवाद, नौकरशाही का विकास, स्वछंद-जीवन-शैली आदि ऐसे अनेक तत्व दिखलायी पड़ते हैं जिन्हें भारतीय समाज में विकास का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री बाउस ने किसी समाज में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के होने और उन संस्थाओं की सक्रियता को विकास का आधार माना है। विकास की इस परिभाषा में समाज में पारस्परिक समायोजन बढ़ने को विकास का प्रमुख चिह्न माना गया है। किसी भी समाज में अनेक वर्ग होते हैं और उन वर्गों में परस्पर संपर्क होता है। इस सम्पर्क में समायोजन का बढ़ना ही विकास का चिह्न है। इस प्रकार एक विकसित समाज में उसके विभिन्न सदस्य एक दूसरे के जीवन में भागीदार होते हैं। इसी तरह समाज में जब नये-नये कार्य करने वाले व्यक्ति, समूह और संस्थाओं का जन्म होता है तो उसे निरंतर विकसित हो रहे समाज के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार विकास की परिभाषा में बाउस ने संस्थागत वृद्धि, नये कार्यों का उत्पन्न होना और पारस्परिक समायोजन, ये तीन तत्व माने हैं। बाउस ने सामाजिक विकास को नैतिक विकास की अनुरूपता के रूप में भी देखा है। उनके अनुसार सामान्य रूप से किसी भी समाज में सामाजिक विकास होने के साथ-साथ नैतिक विकास भी होता है। जिस समाज में नैतिकता का स्तर अच्छा होता है उस समाज में साधारणतया विकास की दशा भी अच्छी ही होती है। प्रो. हेज ने ठीक ही लिखा है कि जीवन के प्रति अच्छा अथवा नैतिक दृष्टिकोण सामाजिक विकास की एक अनिवार्य शर्त है। नैतिकता मनुष्य की आंतरिक चेतना के विकसित होने का लक्षण है। एक विकसित समाज में उसके सदस्य कुछ आधारभूत नैतिक सिद्धांतों को मानने लगते हैं। नैतिक गुणों के अभाव में किसी भी समाज का विकास नहीं हो सकता। नैतिकता सृजनात्मकता को प्रोत्साहित करती है जो कि किसी भी समाज अथवा देश के विकास हेतु अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार सामाजिक विकास में नैतिक चेतना का विकास भी सम्मिलित है।

समाज में किसी भी प्रकार की अभिवृद्धि या प्रगति में समाज के सभी सदस्यों की भागीदारी और उनकी हकदारी होने पर ही उसे सामाजिक अथवा राष्ट्रीय विकास कहा जा सकता है अर्थात उसमें समाज के सभी सदस्यों

का संतुलित विकास सम्मिलित होना चाहिए। सामान्यतः कभी-कभी भौतिक समृद्धि को विकसित समाज का लक्षण मान लिया जाता है, परंतु उसमें नैतिक मूल्यों का स्तर नीचा हो तो उसे समग्र विकास नहीं कहा जा सकता। अंधाधुंध भौतिक समृद्धि से बढ़ती सुविधाएं विकास नजर आती हैं परंतु यह एक अदूरदर्शी व विनाशकारी विकास होता है। भौतिक उन्नति में नैतिक चेतना का विनियोग होने से समानता और स्वतंत्रता के तत्वों तथा चिंतन और विचारों की स्वतंत्रता में अभिवृद्धि होती है जो कि एक विकसित समाज का अनिवार्य लक्षण है। यही कारण है कि अनेक समाजशास्त्रियों ने जनतंत्रीय मूल्यों के आगे बढ़ने को सामाजिक विकास का लक्षण माना है। उन्नति के स्तर बढ़ जाने से विभेदीकरण बढ़ जाता है तथा एकीकरण की समस्यायें उठ खड़ी होती है, इसीलिए बाउस ने केवल परिमाणात्मक उन्नति का होना विकास की ओर संकेत नहीं माना है, किंतु यदि इसको संगठन की कुशलता में वृद्धि के साथ जोड़ दिया जाय तो इसका ठोस महत्व हो जाता है। कुशलता अपने में विशेषीकरण की मांग करती है, किंतु केवल विशेषीकरण को ही विकास का प्रत्यक्ष आधार मानना ठीक नहीं होगा। इसलिए यदि कुशलता समान रूप में हो तो एक छोटे समुदाय की अपेक्षा एक बड़े समुदाय का संगठन बड़ी तथा व्यापक उपलब्धि वाला होता है। वास्तव में, जब नये कार्य उत्पन्न होकर एक दूसरे के साथ उचित समायोजन करते हैं तब इससे होने वाली सामान्य उपलब्धि की वृद्धि ही विकास कहलाती है।

सामाजिक विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि उसके सदस्यों के अंतर्सम्बन्ध सामाजिक हों, क्योंकि एक मानव समूह के सदस्यों में पारस्परिक संबंध उनकी आवश्यकताओं और क्षमताओं की पूर्ति पर आधारित हो सकते हैं जो कि सामाजिक विकास में सहायक नहीं होते, जबकि इनसे हटकर जो संबंध नैतिकता व जीवन-मूल्यों पर आधारित होते हैं वे ही आदर्श रूप में सामाजिक संबंध होते हैं। इस प्रकार कोई भी समुदाय यदि अपने स्तर, कुशलता, स्वतंत्रता तथा पारस्परिकता में आगे बढ़ता है तो उसे विकास की ओर उन्मुख समझा जाना चाहिये। सामान्यतः सुख-समृद्धि को विकास का लक्षण माना जाता है, परंतु इनको लेकर किये गये व्यक्तिगत अथवा एकांगी प्रयास नैतिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते और कभी-कभी तो वे परस्पर विरोधी होकर विकास के विपरीत हो जाते हैं। सामाजिक विकास का विचार समाज के सदस्यों द्वारा किन्हीं वांछनीय उपलब्धियों की ओर संकेत करता है। वस्तुतः सामाजिक विकास से अभिप्राय अपेक्षाकृत अच्छे तथा संपूर्ण जीवन के लिये परिवर्तन होना है जिसमें समाज के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व का विकास संभव हो। इस तरह सामाजिक विकास समाज के सदस्यों की सामान्य आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए होकर प्रयोजनमूलक भी होता है।

सामाजिक विकास से अभिप्राय किसी भी समाज में होने वाले उन परिवर्तनों से होता है जो समाज की आधारभूत संस्थाओं में होते हैं, जो सामाजिक प्रक्रियाओं तथा सामाजिक संगठनों से संबंधित होते हैं और जो अन्ततः सामाजिक कल्याण में वृद्धि से संबंधित होते हैं। ये सभी परिवर्तन समाज में उत्पन्न होने वाले विघटनकारी तत्वों को हटाकर समाज को एक निर्दिष्ट सामान्य दशा की ओर ले जाते हैं, ये समाज को स्वावलंबन तथा सर्वोदय के निकट ले जाते हैं जिनमें मानवीय सुख एवं कल्याण की मात्रा अधिकतम होती है। विकास के लिए सामाजिकों द्वारा सतत प्रयास जरूरी है जो कि उनके विकास के प्रति जागरूक हाने पर भी संभव है।

विकास का संबंध केवल सांसारिक अथवा लौकिक परिवर्तनों से ही है, धर्म व आध्यात्मिकता से नहीं है। हां, यह हो सकता है कि कोई मानव समूह या समाज विकास को धर्म के रूप में ग्रहण करे। इस परिवर्तन अथवा रूपांतरण को इन बिंदुओं में रखा जा सकता है– (1) अशिक्षा से सर्वशिक्षा की ओर रूपांतरण। (2) एकतंत्र से प्रजातंत्र तथा सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की ओर परिवर्तन। (3) कानून के समक्ष असमानता से सभी की समानता की ओर परिवर्तन। (4) वैयक्तिक तथा किसी समूह विशेष की सत्ता से राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की ओर परिवर्तन। (5) धन के केंद्रीयकरण से उचित और न्यायपूर्ण वितरण की ओर परिवर्तन। (6) स्त्रियों की सामाजिक दशा का पुरुषों की समानता की ओर परिवर्तन। हमारी समाज-व्यवस्था उक्त बिन्दुओं के अनुकूल इस प्रकार की होनी चाहिए

जो प्रत्येक सदस्य को उचित अवसर, स्वतंत्रता, विशेषतः उचित सामाजिक न्याय और उन्नति के अवसर प्रदान करे। इनके बिना समाज में विकास की कल्पना करना निरर्थक है। विकास के लिए मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां भी उत्तरदायी होती हैं क्योंकि जब तक हम किसी कार्य के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं होंगे तब तक कोई भी कार्य संपन्न नहीं होगा। अतः किसी भी समाज या राष्ट्र को अपना विकास करने हेतु अपने सदस्यों को सर्वप्रथम मानसिक रूप से तैयार करना होगा, तभी विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। समाज की संस्थाएं, मूल्य, धर्म, राजनीति, आर्थिक परिस्थितियां, सांस्कृतिक परिस्थितियां व रीति-रिवाज आदि भी विकास पर प्रभाव डालते हैं। इनसे निर्मित सामाजिक पर्यावरण विकास की प्रक्रिया के अनुकूल होगा तभी विकास संभव है।

ऊपर संस्कार, संगठन और विकास को लेकर अलग-अलग चर्चा की गयी है, परंतु इस चर्चा में ही इन तीनों का अंतर्संबंध भी स्पष्ट होता गया है। किसी समाज को संगठित एवं विकसित करने में संस्कारशील व्यक्ति ही योगदान करते हैं। कोई भी संगठन तभी सार्थक है जब वह अपने सदस्यों को अपनी परंपराओं एवं वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप संस्कारित करें। संगठन की आवश्यकता विकास के उद्देश्य से होती है और इस उद्देश्य की प्राप्ति तभी संभव है जब संगठन की संरचना इस तरह की हो कि उसके प्रत्येक सदस्य का योगदान उद्देश्य के लिए प्राप्त हो सके। इस तरह कहा जा सकता है कि यदि हमें विकास करना है तो हमें संगठित होना होगा और संगठित होना है तो संस्कारशील होना होगा।

दीपोत्सव की मंगल कामनाएं!

❐❐

– डॉ. बाबूलाल शर्मा

वैचारिकी के जुलाई-अगस्त 2023 अंक में श्री रामशरण युयुत्सुजी का सरस्वती-विषयक लेख प्रकाशित हुआ था, जिस पर प्रो. अभिराज राजेंद्र मिश्रजी ने अपना प्रतिस्वर भेजा है जो इस अंक में पृष्ठ संख्या 96 पर है जिसमें प्रो. मिश्र ने सरस्वती नदी पर किये अपने सर्वेक्षण का उल्लेख किया है जो वैचारिकी के मार्च-अप्रैल 2018 में 'सरस्वती की खोज' प्रकाशित हुआ था। मिश्रजी का सर्वेक्षण निश्चित ही महत्वपूर्ण है और इससे सरस्वती के मरुस्थल (विनशन) में लुप्त होने के अनुमानित कारणों की धारणाओं को विराम लगता है तथा वास्तविक कारण स्पष्ट है कि वह हिमाचल प्रदेश के हाटकोटी से मार्ग बदलकर यमुना में मिलकर प्रयाग जाकर गंगा में मिल गई जिससे त्रिवेणी संगम की धारणा बन गई, यद्यपि वहां द्विवेणी ही है। मिश्रजी ने इसको प्राचीन मार्ग पर प्रवाहित करने की युक्ति बताई है, परंतु अब वह संभव नहीं लगती? हरियाणा के सिरसा और राजस्थान के हनुमानगढ़ तथा उससे आगे तक प्राचीन सरस्वती नदी (जिसे 'हाकड़ा' या 'नाली' कहा जाता है) का विस्तृत पाट अभी भी दृष्टिगत है जिसमें वर्षा के दिनों में पानी बहने लगता है जो आगे मरुस्थल में लुप्त हो जाता है। गुजरात में तो प्रभास के पास सरस्वती नाम से ही जल-प्रवाह की क्षीण धारा समुद्र में जाती दृष्टिगत है ही। कुछ माह पूर्व बदरिकाश्रम की सरस्वती के दर्शन का सुयोग हुआ जो अपने उद्‌गम से घनघोर स्वर से प्रवाहित होती है परंतु कुछ दूर जाकर भूमिगत होकर अलकनंदा में मिल जाती है। इसके भूमिगत होने का दृश्य विस्मित करता है। इसके भूमिगत होने का हास्यास्पद कारण यह बताया जाता है कि इसके घनघोर स्वर से व्यासजी को पुराण-रचना में व्यवधान होता था अतः उन्होंने इसे लुप्त होने का श्राप दे दिया। पृष्ठ 95 पर डॉ. महेंद्र भानावतजी का, जुलाई-अगस्त 2023 अंक में प्रकाशित डॉ. आनंद शर्मा के लेख पर प्रतिस्वर छपा है जिसमें उन्होंने बादशाह अकबर, जोधाबाई, राजा मानसिंह एवं मीरांबाई के संबंध में 'अद्‌भुत' जानकारी दी है, जिसका कोई संदर्भ स्रोत नहीं लिखा है? *-सम्पादक*

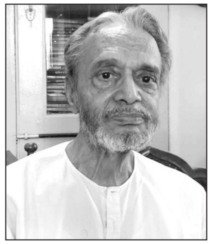

धन की देवी लक्ष्मी : एक शोध विमर्श

महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री

जैसे-जैसे उपभोक्ता संस्कृति पनपती है, धन का महत्व बढ़ता जाता है। धन की पूजा, धन कुबेरों की पूजा और धन के देवताओं की पूजा इसी का सीधा परिणाम होता है। आज के युग में धन का महत्व जितना बढ़ा है उतना ही धन के देवताओं की पूजा का भी। जो धन के देवता नहीं हैं उन्हें भी अपनी पूजा कराने के लिए धन का सहारा लेना पड़ता है। यदि किसी भी नये देवता की प्रतिष्ठा करके यह प्रचारित कर दिया जाये कि उसकी पूजा से अपार धन की प्राप्ति होती है तो इसका क्या असर होगा आप अनुमान कर सकते हैं। कौन होगा जो उसकी पूजा नहीं करना चाहेगा? सुनते हैं, कुछ देवस्थानों की सेवा पूजा में तब से अभूतपूर्व बढ़ोतरी हो गई जब यह प्रचारित किया गया कि उस देवस्थान में जितनी भेंट चढ़ाई जायेगी उससे दुगुणा धन भेंट चढ़ाने वाले को प्राप्त हो जायेगा। कहते हैं, तिरुपति और नाथद्वार के मंदिरों में अपार भेंट आने का यही रहस्य है। रहस्य क्या है यह तो वह देवता जाने, किन्तु इस युग में लक्ष्मी की पूजा का जो नया स्वरूप विकसित हुआ है वह इस दृष्टि से अपने आप में इतिहास का आइना है कि इस देश में उपभोक्ता संस्कृति ने लक्ष्मी की पूजा और लक्ष्मी के स्वरूप की अवधारणा को किस प्रकार परिवर्तित किया है। लक्ष्मी को, जो मूलतः धन की देवी नहीं थी धीरे-धीरे धन की देवी का रूप किस प्रकार दे दिया गया, यह दिलचस्प अध्ययन का विषय है। इस देवी की अवधारणा का इतिहास जितना बहु-आयामी है उतना ही व्यापक भी।

कहने को तो ऋग्वेद के तथाकथित परिशिष्ट का एक स्तोत्र 'श्रीसूक्त', लक्ष्मी का वेदकालीन स्तोत्र बताया जाता है पर ऋग्वेद की संहिता में यह कहीं नहीं मिलता। कुछ लोग इसे अथर्व लक्ष्मी सूक्त बताते हैं पर यह अथर्ववेद में भी नहीं है। इसे कब, किसने, कहां लिखा और किस वेद में जोड़ दिया कोई नहीं जानता। विद्वानों का मानना है कि यह वेदकाल की रचना न होकर खिलसूक्त है, परवर्ती है। सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख लक्ष्मी के बारे में जहां-जहां वेदों में आता है वह भूदेवी बतलाई गई है। वहां लक्ष्मी को धन की देवी के रूप में नहीं बल्कि सौंदर्य और शारीरिक शक्ति आदि के रूप में देखा गया है। श्री को भी कहीं सम्पत्ति और कहीं शोभा के अर्थ में उल्लिखित किया गया है। श्रीसूक्त का एक मंत्र 'गंधद्वारां दुराधर्षां' प्रतिवर्ष नई फसल देने वाली (नित्यपुष्टा) गोबर से लिपी (करीजिणी) भूमि के रूप में वर्णन करता है। पुराण काल में जब भूदेवी की मूर्ति की परिकल्पना की गई तो वह लक्ष्मी बन गई। जिसे चारों दिशाओं के मेघ चार हाथी बनकर नहला रहे हैं, जो भुवनकोश रूपी कमल पर बैठी हुई हैं। जब यह भूदेवी श्रीदेवी बन गई तो इसे धन-धान्य की देवी भी मान लिया गया। केवल धन का इतना महत्व वैसे भी इस देश में कभी नहीं रहा कि उसे देवता मानकर पूजा जाता।

यक्ष संस्कृति की छाया– इसका अर्थ यह नहीं कि प्राचीन काल में धन का महत्व या

भौतिक समृद्धि की एषणा नहीं थी। उस समय भी द्रविण और कांचन का महत्व था, तभी तो व्यंग्य से कभी-कभी यहां तक कह दिया जाता था कि 'सर्वे गुणाः कांचन-माश्रयंति'। किन्तु उसे ही मानव का चरम प्राप्तव्य कभी नहीं माना गया। धन के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं व गुणों का महत्व इस तरह तिरोहित कभी नहीं हुआ जितना आज है। धन का यदि महत्व रहा तो उससे अधिक त्याग का, वैदुष्य का, मानवीय गुणों का महत्व माना गया। किसी धनाधीश को आज तक याद नहीं किया जाता, जबकि निर्धन महर्षियों को आज भी पूजा जाता है। यह अवश्य है कि जीवन का स्वस्थ उपभोग करना यहां हमेशा बहुत अच्छा माना जाता रहा। पुराणों में उल्लिखित यक्ष संस्कृति को जीवन के स्वस्थ उपभोग की तथा भौतिक सुखों से भरपूर जीवन की संस्कृति माना जाता है। यह संस्कृति इसी देश में, हिमालय के आस-पास उत्तरी छोर में बहुत पनपी थी। इसी संस्कृति के एक पात्र थे कुबेर जो देवताओं के धनाध्यक्ष माने गये थे। यक्ष संस्कृति की सिरी देवी के साथ कुबेर की युग्म पूजा की जाती थी। इस कुबेर को पौराणिक युग में दिक्पाल मानकर आर्य संस्कृति ने अपनाया पर देवता मानकर उसे आहुति नहीं दी और न उसके मंदिर बनाये। पुराणों ने उसे काना, कुरूप और कुबड़ा चित्रित किया। धन का बोझ ढोते-ढोते व्यक्ति कुबड़ा हो ही जाता है। वैसे भी यक्ष संस्कृति की उपादेयता धन के कारण नहीं थी, जीवन के उपभोग के आदर्श के कारण थी। संगीत, नृत्य, आनन्द और उल्लास, यक्षों से सारे देश ने सीखे। किन्तु हुआ यह कि जब-जब धन का और जीवन के भौतिक पक्ष का महत्व बढ़ने लगा, यहां के ऋषियों ने यह चेतावनी देना आवश्यक समझा कि भौतिक जगत ही सत्य नहीं है, सत्य इससे परे है। उपनिषदों में इस बात की खोज हुई कि भौतिक समृद्धि से परे, वास्तविक सत्य, चरम सत्य क्या है? केनोपनिषद् में इसी की एक प्रतीक कथा दी गयी है। भौतिक ऐश्वर्य, बल और शक्ति एवं सौंदर्य से परे भी एक चरम सत्य है यह बतलाने के लिए यह जिज्ञासा की गई कि यक्ष संस्कृति क्या है? लौकिक बल और सौंदर्य क्या सब कुछ कर सकते हैं? इसका उत्तर देने के लिये एक महायक्ष ने प्रकट होकर एक तिनका धरती पर फेंका जिसे प्रयत्न करने पर भी अग्नि नहीं जला सकी, वायु नहीं उड़ा सका, इन्द्र का बल-ऐश्वर्य व्यर्थ सिद्ध हुआ। महायक्ष (ब्रह्म) इस रहस्य को सुलझाने के पूर्व ही अदृश्य हो गया। तब महायक्ष की शक्ति, शोभा और सौंदर्य की प्रतीक हैमवती उमा प्रकट हुई और उन्होंने बताया कि ऊर्जा, बल, ऐश्वर्य और सौंदर्य ये सब अंतिम सत्य नहीं हैं– यक्ष, बल और शक्ति किसी और की देन हैं। ये सभी किसी अन्य शक्ति के बल पर जन्मते हैं और नष्ट हो जाते हैं।

विष्णुपत्नी– केनोपनिषद् में हैमवती (हिमालय पुत्री) या उमा (पार्वती) को महायक्ष की शक्ति क्यों बताया गया, जो शिव की पत्नी है? इस पर विद्वानों ने बड़ी अटकलें लगायी हैं। कुछ विद्वानों ने माना है कि कुबेर ही पौराणिक संस्कृति में दिगम्बर शिव बन गये और उनकी शक्ति उमा ही लक्ष्मी के रूप में स्थापित हुई। कुछ विद्वानों का मत है कि महायक्ष की महाविद्या हैमवती उमा ही तब तक ऐश्वर्य की देवी मानी जाती थी। वस्तुतः वेदकाल में लक्ष्मी भूदेवी के रूप में ही देखी गई है, वह सृष्टि के प्रारम्भ में पृथ्वी के उद्भव का प्रतीक है। अनंत जल में से कमल की तरह पृथ्वी (भू देवी) प्रकट होती है। अपोमंडल से हिरण्यगर्भ (सुनहले बीज) की उत्पत्ति का रूपक इसी आधार पर है। इसी स्वर्ण कमल पर बैठी लक्ष्मी कमला और पद्मा कहलाती है जिसे पर्जन्य रूपी हाथी (बादल) नहला रहे हैं। यही कमलासना तांत्रिक साधना में श्रीविद्या बन जाती है जो हृदय कमल में रहती है और सृष्टि की समस्त ऐषणाओं का प्रतीक है, उनकी पूर्ति करती है। यहां तक लक्ष्मी का केवल धन से संबंध नहीं है। श्रीसूक्त में वर्णित धनधान्य, सुवर्ण, गाय, घोड़े, हाथी देने वाली ऐश्वर्य लक्ष्मी की पूजा बाद में कभी शुरू भी हुई तो पुराण के ऋषि ने उसे चरम महत्व की देवी न मानकर विष्णु का पैर दबाने वाली विष्णुपत्नी माना। विष्णुपत्नी वस्तुतः पृथ्वी का नाम है जो अनन्त समुद्र में शयन करने वाले विश्वरूप विष्णु की पत्नी है– वही लक्ष्मी है जो भौतिक समृद्धि की अधिष्ठात्री है। पुराण के ऋषि को तो तब तक संतोष नहीं मिला जब तक उसने भृगु ऋषि द्वारा विष्णु के वक्षःस्थल पर लात मारने

की कथा लिखकर यह सिद्ध न कर दिया कि लक्ष्मी ऋषियों की आज्ञा से ही विष्णु के पास है।

सिरी देवी– वैदिक लक्ष्मी के आदिम सृष्टि से उद्भुत होने की धरती के रूप के साथ, यक्ष संस्कृति की सिरी देवी की अवधारणा न जाने कब आकर जुड़ गयी? यक्षों की सिरी देवी धन और ऐश्वर्य की देवी थी। संभवतः वह उत्तरी भारत की लोक-देवता थी जो बेबीलोनिया की देवी इश्तर से मिलती-जुलती थी। इसी महायक्षिणी सिरी देवी की लोक-पूजा महायक्ष कुबेर के साथ की जाती थी जिसकी परम्परा आज तक चल रही है। जैन और बौद्ध चित्रकला में दो हाथियों द्वारा नहलाई जा रही कमलासना लक्ष्मी के बहुत से चित्र मिलते हैं, किन्तु बौद्धों ने धन की इस देवी की उपासना का निषेध किया था। यक्ष संस्कृति में सिरी देवी जिस प्रकार ऐश्वर्य और सौंदर्य की जगमगाते रूपवाली देवी थी उसी प्रकार कालकर्णी देवी दरिद्रता, प्रमाद, निद्रा और आलस्य का प्रतीक थी। वह काली, कलूटी और कुरूप बतायी गई है। कालकर्णी जातक में आज भी उसका यह रूप उपलब्ध होता है। सिरी देवी का वाहन उलूक बताया गया है जो आज भी उसका यह रूप उपलब्ध होता है। सिरी देवी का वाहन उलूक बताया गया है जो आज तक लक्ष्मी के वाहन के रूप में उससे जुड़ा हुआ है। यह उलूक तांत्रिक साधना में सदा काम आता रहा। इसे रहस्यात्मक और मायावी माना जाता है। यही यक्षों की लोक-देवता सिरी की मान्यता के समय की निशानी है जिसकी विद्वान लोग भांति-भांति की व्याख्याएं करते हैं। कभी सिद्ध किया जाता है कि लक्ष्मी के कृपापात्र लक्ष्मी-वाहन (उल्लू) बन जाते हैं, इसलिए यह लक्ष्मी से जुड़ा हुआ है। और कभी यह कहा जाता है कि धन, बुद्धि को कुंठित कर देता है, अतः उल्लू को लक्ष्मीवाहन माना गया।

वैदिक संस्कृति और यक्ष संस्कृति की लक्ष्मी सिरी तंत्र में आकर जब कमला बनी तो उसकी उपासना का काल अमावस्या की आधी रात को माना गया। कार्तिक की अमावस्या (जो अमांत मास गणना में वस्तुतः आश्विन की अमावस्या है) को कालरात्रि बताया गया और इस दिन इस तांत्रिक श्रीविद्या की उपासना अनंत फलदायक मानी गयी। तंत्र ने महायक्षिणी सिरी को जिस प्रकार श्रीविद्या और कमला बनाया उसी प्रकार दारिद्र्य, बुढ़ापे और कुरूपता की प्रतीक कालकर्णी को महाविद्या धूमावती का रूप दिया। दोनों को महाविद्याएं माना गया। सौंदर्य की देवी कमला भी पूजनीय है और कुरूपता की देवी धूमावती भी। प्राचीन लोक संस्कृति के निषाद भी दोनों की पूजा करते थे, सिरी की भी और कालकर्णी की भी। किन्तु सिरी से ऐश्वर्य मांगते थे और कालकर्णी से यह मांगते थे कि दारिद्र्य और बुढ़ापा उन तक न आने पाये। यही परम्परा तांत्रिक रहस्यवाद ने भी कायम रखी। जिन दस महाविद्याओं को सृष्टि के रहस्यों का प्रतीक माना गया उनमें कमला और धूमावती दोनों को गिनाया गया, दोनों इस सृष्टि के तत्व हैं।

मंदिर संस्कृति– पुराणों ने लक्ष्मी के रूप में जिस देवी को विष्णुपत्नी बतलाया था, उसकी कथा और उसके स्वरूप और उसकी महिमा का बखान विस्तार से होने लगा। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पत्नियां सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती उपास्य देवियां बन गईं। यह अवश्य उल्लेखनीय है कि तीनों की पूजा अपने-अपने पतियों के साथ युग्म रूप में चाहे की जाती हो, इनके अलग से मंदिर नहीं बनाये गये थे। ब्रह्मा की पूजा तो एक शापवश नहीं की जाती पर लक्ष्मी की पूजा विष्णु के साथ ही की जाती थी। लक्ष्मी-नारायण, लक्ष्मी-नृसिंह आदि के मंदिर इस देश में मिलेंगे, केवल लक्ष्मी का कोई प्राचीन मंदिर आपने नहीं सुना होगा। बम्बई में महालक्ष्मी का मंदिर तो एक अर्वाचीन घटना है जो व्यापार-संस्कृति का महत्व बढ़ने के बाद की परिणति है। अकेली सरस्वती का मंदिर बनाने की परिकल्पना भी (जैसे बनारस या पिलानी) विश्वविद्यालयीय भावनाओं की अर्वाचीन परिणति है। शिव-पार्वती साथ ही आते हैं। अकेली पार्वती का मंदिर नहीं है। देवी के शक्तिपीठ और तांत्रिक देवियों (महाकाली आदि) के मंदिर अलग परम्परा के हैं जो शिवपत्नी पार्वती के मंदिर नहीं हैं।

तांत्रिक परम्परा– त्रिदेवों की इन तीन पौराणिक पत्नियों को तंत्र की रहस्यात्मक पूजा के साथ जोड़ने के समन्वयात्मक प्रयत्न भी पुराणों ने किये। दुर्गापूजा के विधान के साथ संहारक्रम से (संहार से सृष्टि की ओर

आने का क्रम लेकर) क्रमशः शिव, विष्णु और ब्रह्मा (संहार, पालन और सृष्टि के देवता) की शक्तियों के रूप में महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती नामक तीन देवियों की उद्भावना की गई जो आज तक नवरात्रों में पठनीय दुर्गासप्तशती के तीन चरित्रों की देवियां हैं। स्पष्ट है कि इनमें से महालक्ष्मी का धन से दूर का भी संबंध नहीं है। दुर्गासप्तशती की यह महालक्ष्मी पालन करने वाली शक्ति है जो अष्टादश भुजाओं में भांति-भांति के आयुध धारण करती है और महिषासुर-मर्दिनी भी है। केवल धन की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी की कल्पना की गई है तो वह बहुत अर्वाचीन घटना ही है।

लक्ष्मी को धनलक्ष्मी, गजलक्ष्मी, धान्यलक्ष्मी आदि के विविध रूपों में देखने की परम्परा तो उद्भूत हुई ही, पर इसके विपरीत 'अलक्ष्मी' की अवधारणा भी पुराणों ने की जो यक्ष-संस्कृति की कालकर्णी और तांत्रिक उपासना की धूमावती का पौराणिक संस्करण है। ब्रह्मपुराण में लक्ष्मी और अलक्ष्मी का संवाद बड़ी गहरी चुटकी काटता है जब अलक्ष्मी (दारिद्र्य की देवी) लक्ष्मी से कहती है कि 'तुम सदा पापी, दुराचारी, छली, कपटी लोगों के पास रहती हो, चमचों (वहां शायद राजाश्रित शब्द है), कायरों और लोभियों से तुम्हारी दोस्ती है जबकि मेरा बड़ा पुराना साथ है विद्वानों, साधुओं, ऋषियों, मुनियों से। पवित्र ब्राह्मण और संतोषी, सात्विक लोग मेरे तबके में ही आते हैं।' युग की विडम्बनाओं का बड़ा मार्मिक और सटीक चित्रण है यह। लगता है कि विद्वानों का और धनाभाव का चोली दामन का साथ बहुत पुराना है। फिर चाहे महाभारत में और पुराणों में लक्ष्मी से कितने ही ऐसे स्थान और गुण गिनवाये गये हों जिनमें लक्ष्मी रहती है। ऐसी उक्तियों में लक्ष्मी कहती है कि मैं उद्यमी, बुद्धिमान, चतुर और स्वच्छ रहने वाले लोगों में रहती हूं, जबकि आलसी, प्रमादी, व्यसनी लोगों को छोड़ देती हूं आदि।

समुद्र से उत्पन्न– पुराणों ने लक्ष्मी की उत्पत्ति उस समुद्रमंथन से बताई है जो देवों और असुरों द्वारा किया गया था। समुद्रमंथन की यह कल्पना आदिम अपोमंडल से सृष्टि के उद्भव की कथा तो है ही, जिससे चन्द्रमा और पृथ्वी ही नहीं, धन्वंतरि, उच्चैःश्रवा, अमृत, विष, वारुणी (सुरा) आदि 14 रत्न प्रकट होते हैं, साथ ही यह इस ओर भी संकेत करती है कि समुद्र के रत्नों का दोहन किये बिना तथा समुद्रपार तक वाणिज्य फैलाये बिना किसी भी देश में लक्ष्मी नहीं आती। समुद्र का मंथन जिस प्रकार देवों और असुरों ने किया था उसी प्रकार सूर्य और चन्द्र की सम्मिलित आकर्षण शक्ति से समुद्रों में जो ज्वार आते हैं वे भी समुद्रमंथन जैसे ही लगते हैं। ऐसे ज्वार पूर्णिमा और अमावस्या को भी आते हैं और कार्तिक की अमावस्या के ज्वार भी होते हैं। हो सकता है इसी कारण कार्तिक अमावस्या को लक्ष्मी की उत्पत्ति का दिन मानकर इस दिन उनकी पूजा प्रचलित हुई हो। किन्तु इस दिन लक्ष्मीपूजा का विधान प्राचीन धर्मग्रंथों में नहीं मिलता, बल्कि कृष्णपक्ष में लक्ष्मीपूजन का निषेध मिलता है। किस प्रकार और किस प्रकार और किस समय से इसदिन लक्ष्मी-पूजन की परम्परा चली इस पर विद्वानों ने बहुत शोध किया है और इस घटना को गत 500 वर्ष से अधिक पुरानी नहीं माना है, किन्तु इस सबके विवेचन का यहां अवकाश नहीं है। किसी के द्वारा इस पर शोधदृष्टि डालने के उद्देश्य से यह विवरण सूचनार्थ दिया गया है।

❑❑

प्रधान-सम्पादक- 'भारती' : संस्कृत मासिक
अध्यक्ष- आधुनिक संस्कृत पीठ,
राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर
सी-8, पृथ्वीराज रोड, सी-स्कीम, जयपुर-302005
मो. 8764044066, फोन-141-2346008

[आदरणीय शास्त्रीजी के इस देवी लक्ष्मी विषयक लेख से दीपावली- लक्ष्मीपूजन से संबंधित अन्य जिज्ञासाओं का भी समाधान हो रहा है। लक्ष्मी के साथ गणेश की पूजा में गणेश, वस्तुतः विघ्नकर्ता यक्ष है जिसके संबंध में पुरोहितों ने हास्यास्पद कथा घड़ ली है कि पार्वती ने गणेश को लक्ष्मी को गोद दे दिया। रामावत वैष्णवों ने दीपावली को लंका- विजय के बाद राम के अयोध्या लौटने से संबंधित कह दिया है जो स्पष्ट ही अतार्किक है। दीपावली पर कहीं भी राम की पूजा नहीं होती। -सम्पादक]

भौतिकी और प्रारब्ध

क्या भौतिकी के प्रयोग से प्रारब्ध-परिवर्तन हो सकता है?

मधु बाबू प्रख्या

1. विषय प्रवेश : क्या जीवन पूर्व-निश्चित है? क्या घटनाएं पूर्व निर्धारित होती हैं? यदि जीवन निरुद्देश्य है तो आप प्रारब्ध को कैसे परिवर्तित कर सकते हैं? क्या भौतिक विज्ञान की आवश्यक मात्रा प्रयोग कर मानव कभी प्रारब्ध परिवर्ति करने में सफल होगा? अनेक धर्मों में निहित दर्शन तथा आध्यात्मिक आस्थाएं संकेत देती हैं कि जीवन में घटित होने वाली सभी घटनाएं निरुद्देश्य नहीं होती, अपितु इनकी पृष्ठभूमि में किसी अज्ञात शक्ति का संरक्षण छिपा रहता है। हमारा जीवन, पूर्व निर्धारित है अथवा स्व-निर्मित है अथवा इन दोनों का मिश्रण, यह एक अति रहस्यात्मक तथ्य है। क्या कोई व्यक्ति घटनाओं को चतुराई से परिचालित कर अपना प्रारब्ध परिवर्तित कर सकता है अथवा चिंतन, मनन एवं ध्यान तथा अन्य प्रबल इच्छा शक्ति के माध्यम से इच्छित समानान्तर जगत में विचरण कर सकता है? ये ऐसे प्रश्न हैं जो महान मानव जीवन का विस्तृत चित्र प्रस्तुत करते हैं। पूर्वी रहस्यवाद, जीवन में पूर्व-निर्धारित मार्ग का कठोरतापूर्वक अनुसरण करना परिलक्षित होता है। इसे हम प्रारब्ध कहते हैं, यह हमारे कर्मों के परिणामों से जुड़ कर हमें प्रभावित करता है।

2. प्रारब्ध क्या है? : प्रारब्ध को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के साथ भविष्य में घटित होने वाली घटनाएं पूर्व-निर्धारित होती हैं। इनकी भविष्यवाणी करने हेतु हम अपने अनुभव तथा कम्प्यूटर की सहायता लेते हैं। मौसम, स्टाक-बाजार अथवा राशि-चक्र आधारित ज्योतिष आदि इसके उदाहरण हैं। परन्तु आवश्यक नहीं कि प्रत्येक प्रसंग में, प्रत्येक बार हमारी भविष्यवाणी सच ही सिद्ध हो। प्रकृति स्वयं में अनियमित तथा यदृच्छिका है जिसका प्रभाव हमारी गणना अथवा परिकलन पर पड़ता है। अतः घटनाओं को समझने में भी 'संभावना' तथा 'शायद' महत्वपूर्ण हैं जो विश्व में कणों (Particles) के सूक्ष्म जगत में अधिक शक्तिशाली तथा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अभीष्ट माात्रक भौतिक विज्ञान की अति महत्वपूर्ण गणनाएं सामान्यतः संभावनाओं पर ही आधारित हैं।

3. अभीष्ट मात्रिक वैश्विक प्रारब्ध क्या है? : अभीष्ट मात्रिक भौतिकी ने अन्य आयामों तथा समानान्तर जगत पर चर्चा का द्वार खोल दिया है। सिद्धांत रूप से तथा प्रयोगशाला में किए गए प्रयोगों से इस प्रकार के अस्तित्वों की संभावना के संकेत मिलते हैं, साथ ही कतिपय दिलचस्प सवाल भी खड़े होते हैं। अभीष्ट मात्रिक भौतिकी ने हमें वास्तविक-आधारभूत वास्तविकता से अवगत कराया है। इसके अनुसार, वास्तविकता वह नहीं है जिसे हम सोचते हैं तथा वे बहुतेरे नियम एवं तर्क जिनका प्रयोग हम अपने स्थूल जगत में करते हैं और अपने सूक्ष्म-जगत में जिसका प्रयोग नहीं करते। उदाहरणार्थ, आप एक पत्थर फेंक कर उसके प्रक्षेप-पथ का लेखा-जोखा करके उसकी रफ्तार तथा शास्त्रीय-भौतिकी में उसकी स्थिति की जानकारी हासिल कर

सकते हैं। परन्तु कणों (Particles) के सूक्ष्म जगत में ऐसा करना सर्वथा असंभव है। वेर्नर हेसिनबर्ग का कथन है कि किसी अभीष्ट मात्रा की वस्तु के दो गुणों की माप-जोख संभव नहीं है, क्योंकि इसकी स्थिति तथा संवेग (अथवा ऊर्जा तथा समय) के साथ-साथ इसमें असीमित यथार्थता भी निहित है। वहां हमारी भविष्यवाणी की यथार्थता परिलक्षित होती है। कण की स्थिति भविष्य में कहां होगी, इसे भूल जाएं, वर्तमान के समस्त प्राचलों (Parameters) का नाप-जोख स्वयं में असंभव तथा अनिश्चित है। परन्तु सामान्य-जनों के दैनिक-जीवन में इन चीजों की नाप-जोख की आवश्यकता नहीं पड़ती, तथापि वहां कणों एवं वस्तुओं के व्यवहार का एक विस्मयकारी जगत है। अति सूक्ष्म कणों का अस्तित्व सर्वत्र है, ये आपके चारों तरफ हैं, आपके अंदर भी हैं और ये उसकी रचना करते हैं जिसे आप स्वयं को 'मैं' कहते हैं। आगे, इसके बाद प्रारब्ध है। हमारे द्वारा, अनुभव के आधार पर कार्य किये जाने से यह पूर्ण होता है। भविष्य को आंकने हेतु हम तर्क का सहारा लेते हैं। इस तर्क-वितर्क के प्रकरण में हमें केवल जीवन के पूर्व निर्धारित तर्क-सम्मत पथ पर विचार करना चाहिए। जीवन में घटित होने वाली घटनाएं जीवन-प्रवाह की निरन्तरता कायम रखती हैं। ये घटनाएं हमें अनुभव प्रदान करती हैं। हमने अपनी अंतश्चेतना को इस अनुभव के केंद्र पर रखा है। हमारे अंदर तथा बाहर आस-पास घटनाएं घटित हो रही हैं, इसका अनुभव व्यक्तिगत अंतश्चेतना करती है और नहीं भी करती है। जो पुष्प आप देख रहे हैं वह पहिले से ही एक बीज से उगा है। इसलिए आप उसे देखने में समर्थ हो रहे हैं। समय अंतश्चेतना के अनुभव का एक महत्वपूर्ण घटक है। घटनाएं समय के जरिए घटित होती हैं तथा समय व्यतीत होने के साथ उनका परिणाम भी परिलक्षित होने लगता है। आप जहां हैं वहां इसलिए हैं क्योंकि आप अपनी आयु के समय से गुजरे हैं। अपने भविष्य की योजनाएं हम इस समय-प्रवाह को देखते हुए उसी के आधार पर बनाते हैं।

कियत्ता अथवा क्वेंटम (Quantum) भौतिकी के निष्कर्षों तथा खोजों की प्रवृत्तियों द्वारा हमें सूक्ष्म जगत से संबंधित कतिपय ऐसी जानकारियां प्राप्त हुई हैं जो रोजमर्रा के स्थूल जीवन के तर्कों की केवल उपेक्षा ही नहीं अपितु चुनौती देती हुई भी प्रतीत होती हैं। हमारी ज्ञानेंद्रियों की क्षमता सीमित है, इस कारणवश हम इन लघु कणों को नहीं जान सकते तथा इनका मूल्यांकन भी नहीं कर सकते। हम इनके व्यवहार तथा बहु-आयामी प्रभाव से भी अनभिज्ञ हैं। इस समानान्तर जगत तथा उसके एक निश्चित प्रकार के क्रिया-कलाप करने अथवा नहीं करने का हमारे जीवन पर गहरा असर पड़ता है। जब हमने इसके बारे में पहली बार सुना तो अनेक लोगों को यह जान कर घोर आश्चर्य हुआ कि वहां एक अन्य 'मैं' अथवा अनेक अन्य 'मैं' हैं तथा वे विभिन्न आयामों के जरिए इस स्थूल दृष्ट जगत के समानान्तर दूसरे जगत से गुजर रहे हैं जो सूक्ष्म है। हमारे पास इसे जानने का कोई मार्ग नहीं था, क्योंकि इसे स्पष्ट करने हेतु हम इस दूसरे जगत के 'मैं' से वार्ता नहीं कर सकते– हालांकि हालीवुड की फिल्में, गल्प-कथाएं, दर्शन एवं भौतिकी इस संबंध में जानकारी हासिल करने हेतु प्रयत्नशील हैं। तथापि ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो हमारे लिए एक पहेली सदृश्य हैं।

उक्त समानान्तर जगत से गुजरते हुए मैं एक विशिष्ट जगत से गुजर रहा हूं, ऐसा इसलिए है क्योंकि मैंने ऐसा सोचा था अथवा मेरी अंतश्चेतना के किसी सूत्र ने यह सुनिश्चित किया है कि मुझे इस विशिष्ट जगत से गुजरना चाहिए। क्या मेरी अंतश्चेतना एक घटक है जिसने इस विशिष्ट घटना को चुना, जिसकी अब हजारों हजार शाखाएं प्रस्फुटित हो रही हैं? अथवा इसके अतिरिक्त भी अन्य कई जगत हैं जो इसके समान नहीं हैं, परन्तु इनका अस्तित्व इनके अपने स्वरूप में हैं जो कणयुक्त तथा कण-रहित भी होते हैं तथा परस्पर स्वतंत्र रूप से परिभ्रमण करते हैं। मेरी अंतश्चेतना एक बाह्य की भांति क्रियाशील है, वह इन स्थानों के मध्य उड़ रही है तथा मेरे अनुभवों का जगत अभिव्यक्त अथवा चयन कर रही है? जगत स्पष्ट अभिव्यक्ति है अथवा चयनित है? यह पहिले कैसा था और अब यह किस स्वरूप में है? इन प्रश्नों के लिए वस्तुतः हम बहु-आयामी अंतरिक्ष में मूल अंतश्चेतनीय व्यवहार को समझने हेतु शोध कर रहे हैं।

4. निरीक्षण तथा निरीक्षक : मात्रिक भौतिकी ने अंतश्चेतना संबंधित चर्चा के प्रारंभ में ही निरीक्षक की भूमिका को अति महत्वपूर्ण बताया है। हमारी योग्यताएं तथा समझ की एक सीमा है तथा यही तथ्य निरीक्षक पर भी लागू होता है। सीमित स्थान तथा समय में हमारी अंतश्चेतना अपेक्षाकृत अधिक होने की पूरी संभावना है। इसका कारण यह है कि हजारों हजार वर्षों से हो रहे विकास के मध्य हम स्वयं अपने प्रति हो रहे बर्ताव का वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर सकते। इस प्रकरण में पशुओं, विशेषतः बन्दर (जिसमें अंतश्चेतना निहित रहती है) के क्रिया-कलापों का अध्ययन विशेष लाभप्रद होगा। पशुओं की अंतश्चेतना के अध्ययन से अंतश्चेतना की कार्य-प्रणाली का रहस्योद्घाटन संभव है। दिलचस्प तथ्य यह है कि इस प्रकरण में बंदर मनुष्य की तुलना में एक कदम आगे हैं। लंगूरों (Baboon) की आवाज पर किए गए हालिया अध्ययन से स्वरों के उच्चारण की जानकारी प्राप्त हुई है। एक बन्दर की पसन्द क्या है और उसका प्रारब्ध किस प्रकार निर्मित होता है? इस प्रश्न पर विचार करने से हमें जीवन में अद्वितीय तथा प्रारम्भिक अंतर्दृष्टि का ज्ञान होगा। दर्शनशास्त्र में मस्तिष्क की तुलना बंदर से की गई है और साहित्यिक एवं आलंकारिक तौर पर, इस तथ्य को हम एक क्षण के लिए मान लेते हैं। मस्तिष्क के लिए एक जगत की एक शाखा से दूसरे जगत की किसी शाखा पर छलांग लगाना तथा इनके मध्य यात्रा करते रहना स्वाभाविक एवं संभव है। रात्रि में बंदर जब सोता है तो वह एक ही शाखा पर सोता है और उसी शाखा पर जागता भी है। जब वह जागता है तब वह अपने साथ उसी बन्दर को देखता है जिसे उसने रात्रि के पूर्व देखा था। यह उस बन्दर की महिला-मित्र कही जा सकती है। इसका कारण यह है कि दोनों बन्दरों ने एक-दूसरे को रात्रि पूर्व में परस्पर देखा था। दोनों एक शाखा पर ही थे तथा इसलिए वे दोनों एक ही प्रकार के आयाम वाले जगत में थे। अतः इन दोनों बन्दरों की अंतश्चेतना उस जगत से संबद्ध है जिस जगत में वे थे। चलचित्रों में घटनाएं छलांग लगाती हुई भी चलती हैं, तब हमें दो घटनाओं के मध्य रिक्ति की पूर्ति करनी होती है। परन्तु वास्तविक जीवन ऐसा नहीं है। इसका प्रवाह एक से दूसरे की तरफ होता है और पहले व्यक्ति द्वारा पूरी तरह अनुभूत किया गया होता है।

एक बन्दर एक वृक्ष की एक शाखा पर है, उसने उसी वृक्ष की किसी अन्य शाखा पर अथवा किसी अन्य वृक्ष की किसी शाखा पर एक फल देखा। उसके मस्तिष्क में उस फल को हासिल करने की इच्छा जागृत हुई, अतः वह फल वाली शाखा पर छलांग लगाकर पहुंच गया। इस प्रकार, हम देखते हैं कि उसकी चेतना ने विचार को क्रिया में परिवर्तित कर दिया। क्रिया, विचार को व्यावहारिक रूप देने हेतु होती है तथा विचार चेतना से संबंधित होते हैं। अब प्रश्न है कि अभी हम जिस जगत में हैं उसके समानांतर जगत की हमारी यात्राएं भी क्या इसी प्रकार होती हैं? यदि यह ऐसा ही है, तो वांछित फल प्राप्त करने हेतु हम अपने विचारों के जगत के वृक्षों एवं उनकी शाखाओं पर उछल-कूद रहे हैं, घटनाओं की आवृत्ति हो रही है। इसका कारण कहीं यह तो नहीं कि हम अपनी चेतना पर आधारित चुने गए जगत में भ्रमण कर रहे हैं? हमारा प्रारब्ध अर्थात् कौन सा फल तथा कौन सा वृक्ष, हमारी अंश्चेतना की देन है जिसकी वजह से हमें एक निश्चित परिणाम (फल प्राप्ति का) हासिल हुआ है? यदि बन्दर को फल नहीं दिखाई देता, तब क्या होता, उसकी क्षुधा कैसे शांत होती? उस स्थिति में बन्दर अपनी क्षुधा को अपने मस्तिष्क में देखता है, वह इस शाखा से उस शाखा पर छलांग लगाता रहता है तथा उसकी यह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक उसे फल न प्राप्त हो जाये। उसकी चेतना उसकी आवश्यकता को जानती है तथा उसकी प्राप्ति हेतु क्रिया करने को प्रेरित करती है। उसकी चैतन्यता का उद्देश्य वास्तविक नहीं है, अपितु मस्तिष्क-जनित छद्म में भोजन है, जिसकी प्राप्ति हेतु वह विचार बनाता है।

यदि हम फल प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें क्या करना चाहिए? फल हमारे प्रयासों से प्राप्त होते हैं तथापि वे दिखाई नहीं देते। क्या हमारी चेतना इन्हें (इन फलों को) साकार कर सकती है अथवा उस जगत से, जो इन फलों को भौतिक स्वरूप प्रदान कर सकता है, संबद्ध कर सकती है? देवताओं की पूजा हम इसी कारणवश

करते हैं ताकि हम उन गुणों को ग्रहण तथा प्रगट कर सकें जिससे हम जिन फलों की प्राप्ति की कामना करते हैं, वही फल हमें सदैव प्राप्त हों, यद्यपि यह संभव नहीं है। हम विभिन्न प्रकार के फल यथा प्रसिद्धि, कीर्ति आदि प्राप्त करना चाहते हैं अथवा एक महान पिता, पति, अध्यापक, वैज्ञानिक, अविष्कारक आदि होना चाहते हैं। इस निमित्त हम उन देवताओं का ध्यान करते हैं जो हमारे द्वारा वांछित फलों की गठरी के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। उपर्युक्त गुणों पर हमारा ध्यान हमारी अंतश्चेतना को जोड़ने वाला, स्पष्ट तथा क्रमबद्ध तथा हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मूर्तरूप प्रयास की तरफ उन्मुख होना चाहिए। क्या सम्पूर्ण अध्यात्मवाद की पृष्ठभूमि में यही तर्क निहित नहीं है? इसी मूल सिद्धांत पर पतंजलि का योग-सूत्र आधारित है।

प्रकृति के रहस्यों के बारे में जितना हम सोच सकते हैं, उससे कई गुना अधिक रहस्य उसमें निहित हैं। ये रहस्य अति गूढ़ होते हुए भी हमारी आंखों के सामने हैं और खुले हुए हैं। यदि हम इसका भाष्य अथवा व्याख्या नहीं कर सकते तो हम इसे समझ भी नहीं सकते और त्रुटिपूर्ण भाष्य-व्याखा होने पर हम इसकी वास्तविकता जानने से वंचित रह जाएंगे। प्रकृति को भली-भांति समझने के लिए हम पूर्व-वर्णित बंदर के उदाहरण को दुहरा सकते हैं। हम यहां मानव-नेत्रों का उदाहरण देंगे। मानव नेत्रों की रचना इस तरकीब एवं उद्देश्य से निर्मित हुई है ताकि ये वस्तुओं को देख सकें। इसीलिए नेत्रों में लेंस आदि जैसे घटक प्रयुक्त हुए हैं। ये घटक अति संवेदनशील तथा इनकी कार्य-प्रणाली काफी जटिल है। नेत्र किसी दृश्य को ग्रहण करते हैं तथा उसके विश्लेषण तथा कार्यवाही हेतु मस्तिष्क को प्रेषित करते हैं। मानव मस्तिष्क की रचना अति गूढ़ मशीन की भांति है, यह नेत्रों द्वारा प्रेषित सूचना पर कार्यवाही करता है। वैश्विक अनुभव महसूस करने हेतु हम स्वयं में अनेकानेक उपकरणों से लैश हैं, पशुओं के प्रकरण में भी ऐसा है, इससे भिन्न नहीं। डार्विन द्वारा विभिन्न जातियों तथा वर्गों के जीव-जंतुओं का चुनाव भी यही संकेत देता है कि वहां सभी प्रकृति तथा प्रारब्ध क्रियाशील है तथा ये (प्रकृति तथा प्रारब्ध) बड़े पैमाने पर प्रजाति के जंतुओं को उत्तर क्रम जीविता उपलब्ध कराते हैं। सामान्यतः जीवित प्राणी, उत्तर-जीवन के इस रहस्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रदान कर अपने वर्ग के जीवों को जीवन की दौड़ में अग्रणी बनाने का प्रयास करते रहते हैं। वे प्रारब्ध के वायदे की पूर्ति तथा इसके एकांतर अथवा विकल्प सहित प्रारब्ध के प्रति सावधान करते रहते हैं क्योंकि असावधान स्थिति उनके वर्ग अथवा जाति को नष्ट अथवा सदैव के लिए समाप्त कर सकती है।

उक्त छिपी हुई बुद्धिमत्ता की बेहतरी के लिए बदलाव स्वीकारने का कार्य प्रकृति स्वयं करती है क्योंकि समय के आने-जाने की पुनरुक्ति होती रहेगी, रहती है। समय का रिक्त स्थान जीवन उत्पन्न करने, नियम बनाने, जाति को चलाने एवं उसे संतुलित रखने अथवा उसे मिटा देने का कार्य करता है। इस क्रीड़ा के समस्त खिलवाड़ से अभी भी हम अनभिज्ञ हैं। जब तक हम इसे जान पाएंगे, तब तक समय समाप्त हो जाएगा तथा फिर एक दूसरे बन्दर को इसे जारी रखना होगा। हमलोग ईश्वर नहीं हैं। हाँ, हनुमान सदैव रह सकते हैं जो इस जगत की वास्तविक व्याख्या कर सकते हैं। इस त्रिआयामी जगत के जरिए अंतरिक्ष यात्रा स्वयं में मोहक होगी। जगत के भविष्य में समय की यात्रा अधिक रोमांचकारी संभावनाएं उपलब्ध कराएगी। भविष्य की झलक पाने की योग्यता के साथ, हम वैज्ञानिक रूप से समझे जाने वाले अपने जीवन के प्रारब्ध पर कार्य प्रारम्भ कर सकते हैं। अभी तक प्रारब्ध के केवल अध्यात्मिक अध्ययन की दिशा में यथेष्ठ प्रयास किए गए हैं।

5. प्रतिभास, चैतन्यता, आकुलकता, कण-द्वित्व तथा प्रायिकत्ता : यहां विज्ञान की प्रधानता है जिसे समझ कर हम कर्म तथा प्रारब्ध को बदलने के तरीके जान सकते हैं। इसे समझने के लिए फलित ज्योतिष, हस्तरेखा विज्ञान, संख्या विज्ञान जैसे अनेक साधन हैं। प्रारब्ध में परिवर्तन हेतु अनेक धार्मिक तथा आध्यात्मिक साधन भी हैं जिनका संदर्भ हम आध्यात्मिक प्रारब्ध के रूप में देना चाहते हैं। वैज्ञानिक-प्रारब्ध एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग हम घटनाओं को तर्क सम्मत तथा विश्वसनीय रूप में आंकने के अर्थ में करते हैं। मानव-समाज ने इस क्षेत्र में अभी तक अधिक उपलब्धियां

हासिल नहीं की हैं तथापि उससे अधिक अधिकृत तथा अपरिवर्तक जानकारियां हासिल करने की आशा की जाती है। इस दिशा में हम सतत प्रयत्नशील हैं और सफल भी हो रहे हैं। इससे हमारे समक्ष प्रारब्ध का एक दिलचस्प प्रकरण प्रस्तुत होता है। हम जानना चाहते थे कि दुहरी कटान (Double slit) का प्रयोग करने पर सृष्टि के मूल कण कैसा व्यवहार करते हैं। कण के आचरण से संबंधित हम कोई तार्किक भविष्यवाणी नहीं कर सकते, उसे गलत या सही होने देने के बजाय यह हमारा प्रारब्ध बदल देगा। क्योंकि वह हमारे निरीक्षण के आधार पर भी अपना व्यवहार बदलता है। जब हमने निरीक्षण किया तब यह एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार कर रहा था, परन्तु 'दुहरी कटान' (Double slit) का प्रयोग करने पर इसका व्यवहार पहले से भिन्न था। ये कण आश्चर्यजनक चैतन्यता रखते हैं। सर जगदीशचन्द्र बोस ने बताया था कि धातुएं तथा जड़ (Non-living matters) भी किसी क्रिया के बदले अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। इससे क्या हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चैतन्यता का अस्तित्व हमारे गोचर जगत से अधिक बड़े जगत में है? पशु, पौधे आदि में भी जीवन निहित है तथा जो कुछ हो रहा है उसका उन्हें पता रहता है। यह हमें भौतिकी के एक सर्वथा नवीन क्षेत्र से परिचय कराता है। संभव है हम इसे मात्रिक चैतन्यता की भौतिकी (Quantum consciousness physics) नाम से संबोधित किए जाने की आवश्यकता समझें।

जगत में हमारे भ्रमण एवं कार्य-कलापों के साथ-साथ समय भी परिवर्तित होता रहता है। अतः समय का अस्तित्व है, इसे मानव जगत एक दिन अपने अधीन कर लेगा? समय की यात्रा ने समझ के नए क्षेत्र उद्‌घाटित किए हैं, साथ ही वैज्ञानिक प्रारब्ध को सावधान भी किया है। यदि ईश्वर का अस्तित्व वास्तव में है, तो निःसंदेह वह सर्वोच्च चैतन्यता है तथा वह समय के चौखटे से परे होना चाहिए। चूंकि ईश्वर समय से श्रेष्ठ है, अतः उसमें प्रारब्ध को परिवर्ति कर देने की योग्यता होनी चाहिए क्योंकि वह समय की शृंखला से खिलवाड़ कर सकता है, वह घटनाओं को एक-दूसरे से परिवर्तित कर सकता है। इस तरह समय से उच्च उठने वाला व्यक्ति भी परममानव होगा। समय के परिचालन, क्रिया-कौशल द्वारा इस प्रकार की संभावनाएं परिलक्षित होने लगी हैं।

कणों की दुहरी प्रवृत्ति जग-जाहिर है। उदाहरण के लिए हम Photons का नामोल्लेख कर सकते हैं। इसके हल्के कण, कणों जैसा बर्ताव तो करते ही हैं, परन्तु साथ-साथ लहर की तरह भी क्रियाशील हो जाते हैं। सुप्रसिद्ध दुहरी-कटान के प्रयोग से स्पष्ट हो चुका है कि जब हम निरीक्षण कर रहे होते हैं, उस समय कण, कणों की भांति क्रिया कर रहे होते हैं तथा जब हम निरीक्षण नहीं कर रहे होते हैं, तब वे लहर की भांति क्रियाशील रहते हैं। इस निष्कर्ष ने अनेक नए तर्कों तथा भाष्यों को जन्म दिया है, जिनमें सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन का सिद्धांत भी शामिल है।

एक पल के लिए यदि हम पीछे मुड़कर इस प्रयोग तथा इसके नतीजों को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि मूल कण स्वभावतः लहरों के समान व्यापक अथवा प्रसारित होने वाले होते हैं। निरीक्षण के दौरान ये कण अपनी पहिचान पुनःस्थापित कर लेते हैं। इसी कारणवश मात्रिक-भौतिकी सम्पूर्णता से कुछ नहीं कहती, इसके बजाय वह पदार्थ की उपलब्धता की सम्भावनाओं के बारे में बताती है। यह विश्व में पदार्थ के मूल से संबंधित न्यूनाधिक सूचना प्रदान करती है। तो, क्या इसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ की प्रतिक्रिया मानव-चेतना को प्रभावित करती है? क्या निरीक्षण के परिणाम आत्मनिष्ठ तथा चेतना से संबंधित हैं? मात्रिक भौतिकी में इस बिन्दु पर चर्चा हेतु एक नया आयाम सृजित किया है। इस कथन का आशय कुछ इस प्रकार है कि यह जगत हमारे निरीक्षण के अस्तित्व से प्रभावित है। अनेक दार्शनिकों तथा अध्यात्मवाद के विभिन्न दर्शन प्रत्यक्ष देखने, ध्यान तथा इच्छाशक्ति के बारे में शताब्दियों से परामर्श देते आ रहे हैं। ये कण की कहानी को एक नया मोड़ देते हैं। भारतीय दर्शन में व्यक्ति की आत्मा को वैश्विक चेतना का एक हिस्सा माना गया है। अनेक मनोवैज्ञानिकों ने चैतन्यता को बृहद जगत की सामूहिक चैतन्यता भी कहा है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल जंग का जगत के प्रति भिन्न दृष्टिकोण है। उनके अनुसार मानवीय चैतन्यता, गहरी चिन्तन की स्थिति है तथा यह अध्यात्मवाद से जुड़ी हुई है।

निद्रावस्था में चैतन्यता की स्थिति के संबंध में प्रश्न किया गया है कि क्या उस समय भी यह अपनी स्वाभाविक दशा में संस्थित रहती है तथा नाड़ी मंडल अथवा तंत्रिका तंत्र तथा मस्तिष्क के न्यूरानों (Neurons) द्वारा सुसुप्तावस्था में प्रवेश करा देती है? इससे भी जटिल प्रश्न यह है कि जब किसी की मृत्यु हो जाती है तब चैतन्यता का क्या होता है? हालिया अध्ययन से इसका उत्तर हमें प्राप्त हो गया है। डॉ. राबर्ट लैंजा के मतानुसार मृत्यु हमारी चैतन्यता की कल्पना है। हम मृत्यु में विश्वास रखते हैं, क्योंकि हमें बताया गया है कि हमारी मृत्यु होगी। यहां इस तथ्य पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि हम अपने शरीर से स्वयं को सम्बद्ध रखते हैं तथा यह भी जानते हैं कि शरीर की मृत्यु होती है।

निरीक्षण के अभाव से ज्ञात होता है कि चेतना का फैलाव ब्राह्मण्ड में होता है और समय अथवा स्थान (Space) इसे प्रभावित नहीं कर सकते। तार्किक रूप से यह अमान्य हो सकता है परन्तु भौतिकी की नई खोजों तथा प्राचीन आध्यात्मिक मान्यताएं इसे स्वीकार करती हैं। जब भक्त अपने इष्ट के किसी विशेष रूप का पूजन कर रहा होता है तो क्या वह अपनी चैतन्यता से, उस इष्ट के किसी विशिष्ट स्वरूप की रचना की शक्ति का आह्वाहन अथवा स्तुति कर रहा होता है तथा तत् निमित्त अपनी चेतना का प्रयोग कर रहा है? क्या यह स्वरूप, आराधक के जीवन को बेहतर घटनाओं तथा इस प्रकार सकारात्मक चिन्तन पर केंद्रित करने में सहायक सिद्ध हो रहा है?

यदि हम दो सम्बद्ध कणों को लें तथा किसी एक पर प्रभाव डालें तो दूसरा कण, वह चाहे कितना भी दूर हो, वह भी प्रभावित होगा। यह सूचना-प्रेषण प्रकाश की गति से भी तेज है। आइन्स्टीन ने इसे दूर की पिशाच-क्रिया (Spooky) नाम दिया है। इससे हमें संकेत मिलता है कि दूसरे कण के साथ क्या हो रहा है, इसकी भविष्यवाणी करना संभव है तथा दूसरे कण के प्रारब्ध को भी जान सकते हैं। सम्प्रति इस प्रकार के प्रयोग लघु-स्तर पर किए जा रहे हैं परन्तु भविष्य में एक दिन यही प्रयोग हमारी योग्यताओं तथा क्षमताओं को विकसित करेंगे और हम बड़े तथा दीर्घकाय चीजों को भी नियंत्रित कर सकेंगे तथा टेलीपोर्टेशन (Teleportation) की तरह परिष्कृत संवाद का अनुभव कर सकेंगे। मानवता, विज्ञान की विकसित विधियों तथा इन पर आधारित प्रारब्ध को उत्सुकतापूर्वक देख रही है। संभावनाओं पर चैतन्यता को तथा उसकी योग्यताओं की घटनाओं अथवा प्रत्यक्षीकरणों पर केंद्रित कर, विजय प्राप्त करना संभव है। थोक में परिवर्तित हो रही वैश्विक घटनाओं के विश्लेषण तथा निरीक्षण की पुष्टि हेतु अभी अधिक शोध की आवश्यकता है। इस समय आध्यात्मिक अध्ययन की आवश्यकता, वैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा अधिक है।

6. प्रत्यक्षीकरण अथवा स्पष्टीकरण का नियमः सर्वप्रथम हम वास्तविक या गोचर जगत का उदाहरण लेंगे। हम यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि सूर्य पूर्व दिशा में उदय होगा। परन्तु सूर्य हमें दिखाई ही देगा, इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, क्योंकि बादलों के कारण सूर्य मेघाच्छादित भी रह सकता है और तब हम उसे नहीं देख सकेंगे। लाटरी में करोड़ों रुपयों का खेल होता है और लोग लाटरी का टिकट क्रय करते समय अनेक प्रकार की भविष्यवाणियां भी करते हैं। इसी प्रकार कासिनो (Casino) के खेल में भी लोग करोड़ों रुपयों का दांव लगाते हैं। इनका नतीजा अवसर तथा बेतुकेपन पर आधारित रहता है। यदि वे नतीजों की भविष्यवाणी कर सकते तो वे निश्चित सफल हो सकते थे। शताब्दियों से मानव समाज विभिन्न विधियों को अपनाते हुए घटनाओं से संबंधित भविष्यवाणियां करता आ रहा है। कुछ लोग आध्यात्मिक तकनीक, गणितीय गणना तथा अंतर्ज्ञानात्मक विधियों का सहारा लेते हैं। इस प्रसंग में कतिपय सांख्यिकीय विधियां तथा वैज्ञानिक तकनीक भी विकसित हो चुकी हैं।

प्रारब्ध-परिवर्तन में, नतीजों में परिवर्तन भी सम्मिलित हैं। ये नतीजे निरीक्षक के चौखटे से बाहर हैं। अनेक सिद्धांतवादियों ने पुस्तकें लिखी हैं तथा यह दावा किया है कि दृढ आस्था-विश्वास से कुछ अवश्य ही घटित होगा तथा प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्रारब्ध में परिवर्तन संभव है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति को साक्षात्कार में सफल होना है, लोग कहते हैं कि यदि तुम्हें विश्वास है कि तुम साक्षात्कार में सफल हो सकते हो अथवा सफल हो रहे हो तो तुम्हें सफलता हस्तगत हो सकती है। यह

सकारात्मक सोच है! अतः घटनाओं को नियंत्रित रखने में एक अथवा अनेक पैरामीटर होते हैं। घटनाओं का क्षितिज अनेक व्यक्तियों, अनेक अटकलों के क्रम द्वारा प्रभावित होता है। इसे प्रभावित करने वाला एक अन्य आयाम प्रकृति भी है। मेरा व्यक्तिगत विश्वास है कि प्रकृति घटनाओं का भी चयन करती है। यदि हम डार्विन के सिद्धान्त के प्रकाश में इस प्रकरण को देखें तो इसे समझने में आसानी होगी। इस सिद्धांत के अनुसार, प्रकृति अपने विवेक से सर्वथा उपयुक्त तथा सर्वोच्च प्रजातियों का उत्तरजीविता (Survival) हेतु चयन करती है। इसी प्रकार प्रकृति सर्वोत्तम तथा सर्वथा उपयुक्त विचारों के अस्तित्व को कायम रखती है। प्रकृति, चैतन्यता का सामूहिक रूप से अध्ययन करती है तथा वैश्विक विकास हेतु सर्वोत्तम तथा उपयुक्त विचारों का पोषण करते हुए उनके अस्तित्व को कायम रखती है। अतः व्यक्ति विशेष के प्रारब्ध में परिवर्तन हेतु व्यक्ति के प्रारब्ध को सीधे क्रम में व्यवस्थित करना होगा ताकि चैतन्यता के उच्चतर स्तर पर साथ-साथ सामंजस्य संभव हो। व्यक्तिनिष्ठ के बजाय, शांति व सामंजस्य के सिद्धान्त पर सामूहिक प्रयास अधिक श्रेयस्कर तथा सफल होते हैं।

7. प्रारब्ध के जनक-रूप में श्रेष्ठ चैतन्यता : श्रेष्ठ चैतन्यता के अस्तित्व पर वाद-विवाद होता रहा है। अब यह विवाद भौतिकी क्षेत्र में भी प्रविष्ठ हो चुका है। लोग इस ब्रह्माण्डीय प्रज्ञा को ईश्वरीय गुण से संबंधित करने लगे हैं। हमें चैतन्यता से संबंधित अध्ययन को धन्यवाद देना चाहिए जिसकी वजह से ईश्वर के महत्व में वृद्धि हुई है तथा अब मात्रिकी भौतिकी में इसकी चर्चा ईश्वर का प्रभाव, ईश्वर-कण आदि नामों से होने लगी है। यदि ईश्वर का अस्तित्व वास्तव में है, तो इसके प्रारम्भिक सिद्धांत सर्वथा भिन्न तथा उच्च-स्तरीय हैं तथा हम ईश्वर को साधारण नश्वर क्रीडांगण में जहां हम प्रतिदिन रहते है, नहीं रख सकते। ईश्वर की शक्ति, उसका उद्देश्य तथा उसका क्रिया-चयन हमारी कल्पना से परे है। उसे धर्मों अथवा तर्कों की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता तथापि इसे न्यूनाधिक समझने का प्रयास यहां करेंगे।

दैवीय क्रीडाएं आश्चर्यजनक होती हैं। उसकी योजनाओं के संबंध में भविष्यवाणी करना असंभव है। वह सूर्य, चन्द्रमा, सितारे, आकाश-गंगा तथा सर्वोपरि समय ला सकता है– जिसे समझ सकना मानव जाति के लिए असंभव है। उसके प्रारब्ध के संबंध में भविष्यवाणी करना भूल जाइए क्योंकि उसने स्वयं ही प्रारब्ध की रचना की है। उस दैवीय शक्ति को जाने बगैर जीवन अधूरा है। क्या जल के अभाव में वर्षा हो सकती है? बिन्दु के आभाव में रेखा अस्तित्व में आ सकती है? आज व्यक्ति सोचने लगा है कि बगैर ईश्वर के जीवन संभव है? मुझे इस बात की परवाह नहीं है कि वह कौन सा स्वरूप धारण करता है। मैं इस बात की भी परवाह नहीं करता कि लोग उस शाश्वत चिरंतन को कौन सा स्वरूप देते हैं। यदि उसका अस्तित्व है तो वह सर्वव्यापी है। मेरे मस्तिष्क में उसका जो स्वरूप है, मैं उसी स्वरूप की पूजा करता हूं। लोग इस सत्य से भली भांति अवगत हैं कि ईश्वर के स्वरूप को पूरी तरह समझ पाना सरल नहीं है। यदि कोई उसके एक स्वरूप को समझ पाने का दावा करता है तो वह माया तथा भ्रांति है। यह लगभग उसी प्रकार है, जैसे हम प्रकाश को श्वेत रंग का समझते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रकाश सात रंगों का सम्मिश्रण है। आज आप आकाश में लाखों सितारे देखते हैं, लेकिन वे भूतकालिक हैं। वर्तमान काल के विज्ञान में भी, देखना मात्र, विश्वास का आधार नहीं है।

ईश्वर का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है क्योंकि विश्व के सभी स्वरूप उसी के हैं। भक्त उसे जिस स्वरूप में देखना चाहता है, ईश्वर उसी स्वरूप को धारण कर लेता है, उसके लिए समय, स्थान अथवा लिंग बाधक नहीं है, वह सर्वत्र व्याप्त है। जो सर्वत्र व्याप्त है, उसे हम कैसे बन्दी बना सकते हैं। यहां एक स्पष्टीकरण दिया जा रहा है। हम गणित का एक उदाहरण लेते हैं। जब संख्या 4 से 1 और जोड़ दिया जाए तो उसका परिणाम यह होगा कि संख्या 4 अब संख्या 5 बन जाएगी। वह संख्या क्या है? इसे हम आमतौर पर निम्नलिखित गणितीय विधि से हल करते हैं। मान लीजिए कि अज्ञात संख्या एक्स (X) है, उस दशा में $X + 4 = 5$ होगा। इसलिए X का मान 1 के बराबर है तथा वह अज्ञात संख्या 1 है। जब हमने इस समस्या को हल करने हेतु गणितीय विज्ञान के पद-चिह्नों का अनुसरण किया तब हमें X का वास्तविक

मान ज्ञात हो गया। प्रारम्भ में हमें यह ज्ञात था कि इस प्रश्न का उत्तर X नहीं अपितु कोई संख्या है और वह संख्या हमें इस प्रश्न को हल करने के बाद ज्ञात होगी। अब हम ईश्वर के प्रसंग को लेते हैं। इस प्रसंग में भी हम उपरोक्त गणीतीय विधि का अनुसरण करेंगे। उस अज्ञात शाश्वत चिरंतर को हम एक किसी भी स्वरूप में मान लेते हैं। गणितीय समीकरण का परिणाम एक ही निकलेगा, भले ही हम उस अज्ञात संख्या को X, Y अथवा Z कुछ भी मान लें। समीकरण का महत्व वास्तविक कल्पना से कहीं अधिक है। इसी प्रकार, ईश्वर के नाम और स्वरूप के बजाय ईश्वर में आस्था तथा विश्वास अधिक महत्वपूर्ण है। अभ्यास के बाद ही व्यक्ति सर्वव्यापी चेतना को देख पाता है।

जिस प्रकार हमने उपरोक्त उदाहरण में वर्णित समस्या को गणितीय विज्ञान का सहारा ले कर हल किया है, उसी प्रकार हम आध्यात्मिक विज्ञान की सहायता से अध्यात्म जगत की समस्याएं, रहस्य तथा पहेलियां हल कर सकते हैं। उपरोक्त उदाहरण में हमें X का मान नहीं ज्ञात था तथा इसका उतर भी X नहीं अपितु कोई संख्या है जिसे हम समस्या के हल के होते ही जान लेंगे। इसी प्रकार आध्यात्मिक अभ्यास के प्रारम्भ में हम केवल ईश्वर की कल्पना करते हैं। बस, सुविधा हेतु हमने उस ईश्वर को एक परिसीमित स्वरूप दे दिया है। प्रकाश का दीप्तमान होना, एक भिन्न प्रकार का दैवी कार्य माना गया है। दैवीय शक्ति स्थिर नहीं अपितु परिवर्तनशील एवं अस्थिर है, गणित की भाषा में यही कहा जाएगा। व्यक्ति जब तक अपनी चैतन्यता को जागृत करने का आध्यात्मिक अभ्यास नहीं करेगा तब तक उसे ईश्वर के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति नहीं होगी; जैसे गणित का कोई प्रश्न हल करने हेतु यदि हम निर्धारित प्रक्रिया पर अमल नहीं करेंगे तो हमें सही उत्तर नहीं मिलेगा। जैसा कि हम जानते हैं, प्रकाश की गति अत्यंत तीव्र है और प्रकाश की गति से भी अधिक तीव्र गति से चलने वाले मूल कणों तथा टाचयानों (tachyons) का पीछा मात्रिक भौतिकी में करते रहे हैं। वृत्त के स्वरूप से मिलते-जुलते प्रारम्भिक टायचानों के संबंध में कतिपय अफवाहें तथा अपुष्ट चर्चाओं का अस्तित्व अभी कायम है। कहा जा सकता है कि यहीं से मात्रिक भौतिकी के वैज्ञानिकों ने उच्च प्रज्ञा अर्थात ईश्वर के अस्तित्व की पुष्टि का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रकाश, प्रकृति के रहस्यों को उद्‌घाटित करने की चाभी है।

प्रकाश का अस्तित्व हमारे लिए एक मूल्यवान उपहार है। प्रकाश के व्यवहार ने हमारे लिए ज्ञानार्जन के नए दरवाजे खोल दिए हैं। हमलोग सोचते हैं कि प्रकाश हमारे जीवन-पथ को दिखाता है। आइंस्टीन ने प्रकाश के आश्चर्यजनक व्यवहार पर अध्ययन में कई दशक व्यतीत किए थे। वे एक साधारण सा प्रश्न किया करते थे कि यदि मैं प्रकाश के साथ उसी की रफ्तार में चलूं तो मैं क्या देखूंगा और क्या इसकी तीव्र गति प्रभावित होगी? आइंस्टीन ने अनुभव किया कि इसकी गति धीमी नहीं होगी। प्रकाश अपनी गति से चलता रहेगा, उसे साथ में चलने वाले अर्थात निरीक्षक की रफ्तार से कोई मतलब नहीं है। इस अध्ययन में एक अन्य खुलासा यह हुआ कि ऐसी ही तीव्र गति से चलने वाली वस्तुएं अपने में नाटकीय परिवर्तन भी करती हैं, वे अपना आकार तथा वजन घटा-बढ़ा सकती हैं। इसी क्रम में ऐसे कण की खोज हुई जिसकी रफ्तार प्रकाश की रफ्तार से अधिक थी, वैज्ञानिक जगत में इसे टेचीयोन्स (Tachyons) के नाम से जाना गया, परन्तु अभी तक इसके अस्तित्व के साक्ष्य नहीं उपलब्ध हुए हैं। तथापि, यदि इनका अस्तित्व है तो इनके गुण-दोष सामान्य व्यक्ति की समझ से परे हैं। इनकी गति इतनी तीव्र है कि वे जगत के किसी भी कोने में तत्काल पहुंच सकते हैं। माना जाता है कि यदि हम टेचीयान्स की खोज करने वाले उपकरण का निर्माण कर लें तथा यह भी कि जगत में कहीं इनका अस्तित्व है तो उस दशा में भी वे अपनी तीव्र गति के कारण स्वयं को लाखों की संख्या में परिवर्तित कर देंगे। केवल एक टेचीयान, एक ही समय में अनेक स्थानों पर रह सकता है, विश्व के महान वैज्ञानिकों का यही मत है। ऐसे कणों के रहस्यों से संबंधित आश्चर्यजनक शोध हो रहे हैं। इन तथ्यों के प्रकाश के हमें स्वीकार करना होगा कि जगत के अनेक रहस्यों से हम अनभिज्ञ हैं। हमलोग समय व सृष्टि की एक झलक मात्र हैं। किसी ग्रह पर जीवन के अवतरण

में लाखों वर्ष तथा जीवन के उपयुक्त वातावरण निर्मित करने में करोड़ों वर्ष लगे होंगे। परलोक अथवा देवलोक का अस्तित्व है अथवा नहीं, हम इसे नहीं देख सकते, परन्तु हमारी पृथ्वी खूबसूरत लघु ग्रह है, जहां हम महानता तथा सफलता को प्राप्त कर सकते हैं।

अनेक आध्यात्मिक प्रार्थनाओं की शुरुआत दीपक प्रज्वलित करके होती है। बहुतेरे लोग प्रकाश पर ध्यान लगाते हैं तथा प्रकाश के स्रोत सूर्य के प्रति आभार एवं धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में लोग अनेक लोकों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं तथा अनेक सूर्यों के अस्तित्व को भी मानते हैं। ये अनेक सूर्य अनेक लोकों को प्रकाश प्रदान करते हैं। लोगों की आस्था है कि सूर्य की उपासना जीवन-शक्ति में वृद्धि करती है। प्रकाश केवल जीवन का स्रोत ही नहीं अपितु जीवन में ऊर्जा भी संचारित करता है। मंत्रों का प्राचीन विज्ञान हमें ऊर्जा देते हुए ब्रह्माण्डीय चैतन्य-जगत में शक्तिशाली बनाता है।

8. क्रमबद्ध क्रियाएं तथा मात्रिक भौतिकी : प्रकृति के साथ हम अपनी क्रियाओं को किस प्रकार क्रमबद्ध कर इच्छित सर्वोत्तम प्रारब्ध प्राप्त कर सकते हैं? तन्निमित्त, सर्वप्रथम हमें अपने आत्म-केंद्रित व्यक्तित्व को देखना बन्द करना होगा। जो उच्च उपलब्धियों की तरफ ध्यान देता है उसे अपने प्रारब्ध को नियंत्रित करना होगा। संभवतः इसी कारणवश, जो लोग कठिन श्रम करते हैं, आत्म-विश्वास रखते हैं वे सामूहिक लाभ प्राप्त अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं। ज्ञान के बारे में एक अन्य बात कही गई है कि यह व्यक्ति की चेतना को विस्तार प्रदान करता है। वह अच्छी चीजों तथा स्वयं के जीवन को वैकल्पिक दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर देता है। जैसे हम एक बड़े आकार की तस्वीर में प्रदर्शित चीजों को समझ लेते हैं, तथा उनको महत्व देते हैं, उसी प्रकार जीवन में घटित होने वाली सामान्य घटनाओं को भी महत्व देना श्रेयस्कर है। हमारी प्रत्येक क्रिया, ज्ञात एवं अज्ञात तथ्यों द्वारा प्रभावित होती है। सरल जैसा दिखाई देने वाला जीवन, हमारी क्रियाओं से कठिन तथा मकड़जाल की भांति हो सकता है, प्रकृति के नियम तथा अन्य लोगों की प्रवृत्तियां भी हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं। प्रकृति के बारे में सीखने की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। विश्व के किसी भी बिन्दु से हम सीखना प्रारम्भ कर सकते हैं। सीखने के दायरे में ज्ञान के क्षेत्र की सभी बातें निहित हैं। यह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक व्यक्ति को यह अनुभव नहीं हो जाए कि इन भिन्न-भिन्न विषयों में भी परस्पर जुड़ाव है। प्रकृति को पूरी तरह समझने पर अनुभव होता है कि सभी विषय, ज्ञान रूपी वृक्ष की अनेक शाखाएं हैं। जैसे-जैसे हम एक के बाद दूसरा द्वार खोलते हैं, हम अधिक से अधिक सीखते जाते हैं और तब हम अपनी सोच में सुधार करते हैं, साथ-साथ अधिक सीखते भी हैं। मात्रिक भौतिक शास्त्र तथा चैतन्यता इस प्रसंग में अपवाद नहीं हैं। एक ही छाते की छाया में एकत्र इन्हें समझने हेतु मात्रिक भौतिकी तथा चैतन्यता को सम्मिश्रित कर देना उपयुक्त होगा। वैश्विक नियमों का मानव जाति के प्रारब्ध को बदलने हेतु, आवश्यक सुधार तथा परिवर्तन सहित प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

हम सभी व्यक्ति अपने को वैकल्पिक शारीरिक आत्मा अथवा स्वयं की चेतना के रूप में देखते हैं तथा हम इसकी स्वाभाविक सचेतना सहित मनोवैज्ञानिक, प्राणिशास्त्रीय, आध्यात्मिक, शारीरिक तथा तत्व-मीमांसा- जिनमें परिवर्तन होता रहता है- के मध्य रहते हैं। इन तत्वों के वृहद बिम्ब में वैयक्तिता चाहने वाले को अनेक प्रकार की चुनौतियों का सामना करना होता है और इन्हें स्वयं के अनुकूल बनाना अति कठिन है। वह उसी वस्तु को देखता है, जो उसके सामने है अथवा भविष्य में आने वाली है। वह यह जानने का प्रयास करता है कि इस वस्तु के विषय में जितना वह जानता है, क्या उसके आगे भी कुछ जानना शेष है? वह प्रत्येक दृश्यमान अथवा आशा को 'हलो' करता है। अपने जीवन में, भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं के साथ भी वह ऐसा ही करता है। सामने उपस्थित अथवा भविष्य में आने वाले बुरे अथवा अप्रिय प्रसंगों से कैसे बच सकता है, यह उसके समक्ष एक गम्भीर चुनौती है। मनोनुकूल परिणाम प्राप्ति हेतु वह मात्रिक भौतिकी की तरफ आशापूर्ण निगाहों से देखता है। हमें अभी भी असीमित ज्ञान के क्षेत्र में छिपे अनेक जटिल विषयों, यथा चैतन्यता जो वास्तव में जीवन का वस्त्र है, का परीक्षण तथा निरीक्षण करना होगा।

9. जीवन से परे : जीवन स्वयं में एक चलचित्र की तरह दिखाई देता है। इसमें गति कायम रखने के लिए घटनाओं की शृंखला जोड़ी जाती है। मेरे लिए जीवन विभिन्न स्तरों की समझदारी तथा घटकों का योग है जो इन्हें साथ-साथ कार्य कराता है। हम ये सभी अनेक प्रश्न करते हैं और विज्ञान तथा दर्शन खोजते हैं, तब मात्रिक भौतिकी की तरफ लोगों की जागृति होती है। मात्रिक भौतिकी अज्ञात का पता लगाने तथा उसे उद्घाटित करने का वादा करती है। यदि हम अन्य विज्ञानों के साथ मात्रिक भौतिकी का सहारा लेते हुए चेतना के साम्राज्य को समझलें तो हमें चैतन्यता का महत्व ज्ञात हो जाएगा, चैतन्यता स्वयं में जीवन की चाभी है। हम इसे अधिक मजबूत बनाने के लिए अधिक विस्तार देने के तरीकों की खोज करेंगे। ये तरीके इसे बेहतर बनाएंगे और हम बेहतर जीवन जीने के लिए इनका प्रयोग करेंगे। इसके लिए हमें किसी आविष्कार की आवश्यकता नहीं है। सौभाग्यवश, भारतीय दर्शन तथा बौद्धिकता में चैतन्यता को अधिक मजबूत बनाने से संबंधित प्रभावी तरीकों का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ हम योग-ध्यान तथा मंत्रोच्चार का उल्लेख कर सकते हैं। ये विधियां व्यक्ति को मजबूत बनाने के साथ-साथ उसे शाश्वत जीवन का चैतन्य प्राणी बना देती हैं।

जीवन का सर्वाधिक सुन्दर पहलू यह है कि जीवन स्वयं में एक उपहार है। इसे देखने में अक्षमता अंधेपन का द्योतक है। प्रकृति का प्रत्येक आश्चर्य कविता की भांति है। इंद्रधनुष के रंग अथवा उषाकाल का दृश्य कविता की पंक्तियां हैं, इनमें गहरी विलक्षणता छिपी हुई है। आप सृष्टि के रचयिता का, अथाह ज्ञान द्वारा गवेषण कर सकते हैं तथा इस सृष्टि के प्रत्येक कण में निहित अनेकानेक गुणों से सम्पन्न हो सकते हैं। ब्रह्माण्ड में बहुत कुछ मौजूद है और इसी प्रकार आणविक स्तर भी। हम अभी तक सृष्टिकर्ता की क्षमता को नहीं समझ सके हैं। प्रकृति के अनेक रहस्यों को मात्रिक भौतिकी की सहायता से समझा जा सकता है। हमें जीवन के अनेक रहस्यों को समझना अभी बाकी है। इसमें सीमाओं को किस प्रकार परिभाषित किया गया है अथवा प्रकाश कैसे कार्य करता है, हमें यह भी पता लगाना है। भार किस प्रकार अपना अस्तित्व बनाए रहता है, हमें इसकी आधिकारिक जानकारी नहीं है। CERN में हो रहे प्रयोगों द्वारा आकाशगंगा की रचना से संबंधित तथ्यों का अभी तक खुलासा नहीं हो सका है। क्या आप अपने चारों तरफ के योजना-पृष्ठ को वास्तव में देख सकते हैं? इस पृष्ठ को देखने में आपको सक्षम बनाने के लिए प्रकृति ने कितनी बुद्धिमत्ता का प्रयोग किया होगा, क्या आप इसे देख सकते हैं? आप अस्तित्व में बने रहें, इसके लिए कितनी मात्रा में बौद्धिक स्तर चाहिए? यदि आप यह सब देख सकते हैं तो आप मौसम, ॠतुओं, सागर की लहरों, जैविक घड़ियों (Bioclocks), गुरुत्वाकर्षण शक्ति तथा अनेक अन्य चीजें, जो अस्तित्व में हैं, देख सकते हैं और इन्हें तुरन्त देख सकते हैं? आप ॠतम्भरा को भी देख सकते हैं। आप अपने चारों तरफ के धागे (Strings) जो आपसे प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण जगत में व्याप्त हैं और परस्पर जुड़े हुए हैं, को देख सकते हैं। सुन्दरता यह है कि आप इन धागों अथवा तारों से, एक बीमार की तरह नहीं बंधे हैं। आप जादुई, संगीतात्मक अदृश्य से चमत्कारिक रूप से जुड़े हैं। आप ब्रह्माण्डीय बुद्धिमता, विज्ञान तथा उसकी योजनाओं के एक भाग हैं, अतः आप इस सृष्टि के अंग हैं। जगत की पुस्तक में आप एक कविता हैं तथा ब्रह्माण्ड के घने अंधेरे में आप प्रकाश की भांति हैं। आपके विचारों की गति, प्रकाश की गति से अधिक तीव्र है। इनमें सभी तथाकथित आयाम तथा संबंध निहित हैं। यदि आप महसूस करें तो आप जगत के लघु-चित्र हैं। आप प्रारब्ध को परिवर्तित कर सकते हैं। आपके पास जगत का सर्वाधिक शक्तिशाली औजार है, जिसे चेतना कहा जाता है। यह औजार मूल या मौलिक कणों को परिवर्तित कर सकता है, यह सिद्ध हो चुका है। आप भूतकालिक विचारों तथा प्रक्रियाओं को चुनौती दे सकते हैं। आप विज्ञान के भूतकालिक मूल आधार को भी चुनौती दे सकते हैं।

❑❑

1931, Cedarwood Loop,
San Ramon,
CA94582 San Francisco
CA Faster City
Ph. (510) 657-5050

34,500 ईसा पूर्व बृहद्रथ द्वारा महासागर के स्तर में गिरावट का अवलोकन

एआर. रूपा भाटी

ऐसे कई ग्रंथ हैं जिनका खगोल विज्ञान मुख्य विषय रहा है और इनमें अलग-अलग युग शामिल हैं जिनमें संबंधित वाक्यांशों को सूक्ष्मता से दर्ज किया गया है। कुछ ग्रंथों में समुद्र के बढ़ने जैसे भू-खतरों यानी बाढ़ के मिथकों का भी रिकॉर्ड है जो एक सार्वभौमिक स्मृति है। दूसरी ओर समुद्र और नदियों के सूखने का उल्लेख किसी भी सार्वभौमिक स्मृति में पाया जाना दुर्लभ है। तथापि अंतिम गत ग्लेशियल मैक्सिमम से पहले के समय की स्मृतियाँ हैं, जो 20000 ईसा पूर्व से पहले की घटना है और भारतीय ग्रंथों और सार्वभौमिक स्मृतियों में स्पष्ट रूप से मौजूद है, जिनमें खगोल विज्ञान के अवलोकन भी शामिल हैं। ऐसा ही एक प्रसंग हमारे पास अगस्त्य के समुद्र पीने का मिथक के रूप में मौजूद है जो गत ग्लेशियल मैक्सिमम समय के साथ पूरी तरह से मेल खाता है, उस समय एक भू-खतरा देखा गया था और यह दक्षिणी गोलार्ध के सितारों के खगोल विज्ञान के साथ स्मृतियों में प्राप्त हुआ है जो कि कुरुक्षेत्र के उत्तर भाग तक भी देखा जाता रहा था। यह प्रत्यक्ष हमारे समय के समान है जहां अगस्त्य तारा कुरुक्षेत्र में सूर्य के साथ शरद ऋतु में उगता है। संक्षेप में जो भू-आपदा थी और जिसमें खगोलशास्त्रीय अवलोकन से जुड़े दक्षिणी गोलार्धी तारे उत्तरी कुरुक्षेत्र तक देखे जा सकते थे, तो हमारे समय में अगस्त्य ही कुरुक्षेत्र में ध्रुवांश के रूप में उभरते हैं। ऐसा विषुव बिन्दु के पूर्वगमन अथवा अक्षीय पूर्वगमन के कारण होता है, जिसके कारण कुछ तारे जो 13000 वर्षों तक केवल विंध्य के दक्षिण में देखे गए थे, वे फिर 13000 वर्षों तक विंध्य के उत्तर में धीरे-धीरे अपने दाएँ आरोहण और गिरावट के अनुसार कुरुक्षेत्र और उससे आगे तक पहुँचते हुए देखे गए। इसका मतलब यह होगा कि अगस्त्य-कैनोपस तारा दक्षिणी ध्रुव तारे का स्थान छोड़ चुका है और अब उत्तर तक दिखाई दे रहा है।

ऐसे में सवाल उठता है कि क्या हमारे पास ऐसा कोई अनोखा अवलोकन है जहां भारतीय संस्मरणों में महासागर के स्तर में गिरावट दर्ज हो। हमें मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् में स्पष्ट रूप से एक ऐसी स्मृति मिलती है जहां अक्षीय पूर्वगमन के प्रभाव को यह कहते हुए नोट किया गया था कि 'ध्रुव क्यों प्रचलित होता है, आकाशीय पिंडों को पकड़ने वाले वायु-तार क्यों नीचे डूबते हैं (किं... ध्रुवस्य प्रकालनम्...वतरज्जुन्नम् निमज्जनम)'। इस पूछताछ में यह कथन निहित है : 'जिस नॉर्थ स्टार को हम स्थिर मानते थे, उसने अपनी स्थिति बदल ली है' (आर एन अयंगर द्वारा नोट किया गया)।

मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद (जिसका अधिकांश पाठ लुप्त हो गया है) का एक छोटा सा हिस्सा राजा बृहद्रथ और शाकायन के बीच एक संवाद के रूप में उक्त विषयक योगदान देता है। संवाद वैराग्य यानी पश्चाताप से शुरू होता है, लेकिन इसमें कालबोध यानी समय का ज्ञान

तथा सूक्ष्म और स्थूल, व्यापक और बदलते दर्शन सहित अन्य ज्ञान भी शामिल हैं। इस प्रकार यह खगोल विज्ञान का एक खंड है, जिसमें बदलते आकाश व भू-खतरे, वंशावली के साथ अंतर्निहित हैं और उन्हें स्पष्ट रूप से नोट किया गया है। आइए उन पर एक नजर डालें।

1. वसन्त ऋतु तथा वर्ष के प्रारम्भ का वर्णन– पञ्चेष्टको वा एषोऽग्निः संवत्सरः तस्येमा इष्टका यो वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः शरद्धेमन्तः स शिरःपक्षसीपृच्छ्पृष्टवान् एषोऽग्निः पुरुषविदः सेयं प्रजापतेः प्रथमा चितिः ...।।6.33।। पाँच ईंटों वाली यह अग्नि (गारहपत्य-अग्नि) वर्ष है। इसकी पाँच ईंटें हैं वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद-सर्दी, शीत ऋतुएं और उनके अनुसार अग्नि का एक सिर, दो भुजाएँ, एक केन्द्र और एक पूँछ होती है। संक्षिप्त नोट– लेखक ने यहां स्पष्ट रूप से नोट किया है कि अग्नि की पांच ईंटों में से पहली इष्टक या ईंट वर्ष की पहली ऋतु वसंत से संबंधित है, इस प्रकार यह वाक्यांश कहता है कि संवत्सर यानी वर्ष वसंत ऋतु से शुरू होता है। मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् (6.33) वसंत को वर्ष की पहली ऋतु के रूप में निर्दिष्ट करता है।

2. मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् 6.14 निर्दिष्ट करता है कि वर्ष माघ नक्षत्र की शुरुआत में शुरू होता है। अन्नं वा अस्य सर्वस्य योनिः कालश्चान्नस्य सूर्यो योनिः कालस्य तस्यैतद्रूपंयन् निमेषादिकालात्सम्भृतं द्वादशात्मकं वत्सरमेतस्याग्ने-यमर्धमर्धंवारुणं मघाद्यं श्रविष्ठार्धमाग्नेयं क्रमेणोत्क्रमेण सार्पाद्यं श्रविष्ठार्धान्तं सौम्यम्...।।6.14।।

वर्ष का आधा हिस्सा (जब सूर्य दक्षिण की ओर बढ़ता है-कॉवेल) अग्नि का होता है, दूसरा भाग वरुण का (जब सूर्य उत्तर की ओर बढ़ता है-कॉवेल)। जो अग्नि से संबंधित है वह मघा के नक्षत्र से शुरू होता है और श्रविष्ठा के आधे नक्षत्र के साथ समाप्त होता है, जब सूर्य उत्तर की ओर उतरता है। जो सोम से संबंधित है (वरुण के बजाय, सौम्य का उपयोग किया जाता है) तारांकन (आश्लेषा के) से शुरू होता है, जो नागों के लिए पवित्र है, और श्रवण के आधे तारांकन के साथ समाप्त होता है, सूर्य दक्षिण की ओर बढ़ता है। और फिर वर्ष से संबंधित एक-एक करके (महीने हैं), जिनमें से प्रत्येक में नौ-चौथाई तारांकन शामिल हैं (दो तारांकन और एक चौथाई सत्ताईस नक्षत्रों के माध्यम से सूर्य के पारित होने का बारहवां हिस्सा है), प्रत्येक को तारांकन के साथ सूर्य के घूमने से निर्धारित किया जाता है (कॉवेल)।

संक्षिप्त टिप्पणी–लेखक ने स्पष्ट रूप से नोट किया है कि वर्ष का आधा भाग अग्नि का और आधा भाग सोम या वरुण का होता है। कॉवेल द्वारा ब्रैकेट किए गए नोट दोषपूर्ण हैं क्योंकि यह अग्नि को वसंत के साथ संपुष्ट नहीं करता है यानी मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् 6.14 और 6.33 के वसंत के साथ, बल्कि कॉवेल ने अग्नि को ग्रीष्म संक्रांति के साथ जोड़ा है। हालाँकि उन्होंने अपने निष्कर्षों को वेबर के निष्कर्षों से भिन्न बताया जहाँ अग्नि को विभिन्न पाठों में शीतकाल (उत्तरायण) से जोड़ा गया था। पश्चिमी लेखकों द्वारा बताई गई अग्नि को ग्रीष्म संक्रांति या शीतकालीन संक्रांति के साथ जोड़ने की ये अस्पष्टताएं, विभिन्न पाठों के सभी उपलब्ध श्रविष्ठा (श्रवण) के वाक्यांशों को ग्रीष्म-वर्षाकालीन दक्षिणायण या शीतकालीन उत्तरायण की ओर ले जाती हैं।

3. मैत्रायणी अरण्यक उपनिषद् 7.1 फिर से निर्दिष्ट करता है और आश्वस्त करता है कि वर्ष का अग्नि वसंत की शुरुआत में है और सूर्य पूर्व में तारामंडल (इस मामले में मघा) के साथ उग रहा है। अग्निर्गायत्रं त्रिवृद्रथन्तरं वसन्तः प्राणो नक्षत्राणि वसवः पुरस्तादुद्यन्ति तपन्ति वर्षन्ति स्तुवन्ति पुनर्विशन्ति अन्तर्विवरेणेक्षन्ति...।।7.1।। अग्नि, गायत्री छंद, त्रिवृत रंध्र, रथंथर समान, झरना, ऊपर की ओर जाने वाली महत्वपूर्ण वायु (प्राण), चंद्र भवन, वसु, वे पूर्व की ओर बढ़ते हैं। वे गर्म होते हैं, वे बरसते हैं, वे स्तुति करते हैं, वे सूर्य के भीतर पुनः प्रवेश करते हैं, वे छिद्र में देखते हैं (कॉवेल)। विश्वे देवा अनुष्टुवेकविंशो वैराजः शरत्समानो वरुणः साध्या उत्तरत उद्यन्ति तपन्ति वर्षन्ति स्तुवन्ति पुनर्विशन्ति अन्तर्विवरेणेक्षन्ति अन्तःशुद्धः पूतः शून्यः शान्तोऽप्राणो निरात्मानन्तः ।।7.4।। विश्वे देवः, अनुष्टुप छंद, एकविंश स्तोम, वैराज समान, शरद ऋतु, समान करने वाली महत्वपूर्ण वायु, वरुण, साध्य, वे उत्तर की ओर बढ़ते हैं। वे गर्म होते हैं, वे बरसते हैं, वे स्तुति करते हैं, वे सूर्य के भीतर पुनः प्रवेश करते हैं, वे छिद्र में देखते हैं। उपरोक्त कथन पर लेखक का अभिप्राय– यहां यह ध्यान दिया जाना चाहिये कि अग्नि ही वर्ष का मुख

है, इस प्रकार मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद 6.14 को मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद 6.33 की पुष्टि करनी चाहिए। अन्य ब्राह्मण भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अग्नि वसंत का पर्यायवाची है और इस प्रकार वर्ष वसंत से शुरू होता है।

क्या यह उपरोक्तजानकारी सुसंगत है? आइए देखते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण 1-1-2-7 कहता है कि वसंत वर्ष का पहला ऋतु है जहां अग्नि की कल्पना की जाती है, और यह मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद 6.14 के समान योनिवत है; जो कहता है 'अन्नं वा अस्य सर्वस्य योनिः कालश्चन्नस्य सूर्यो योनिः कालस्य तस्यितद्रुपम्, यह योनि अथवा गर्भ से उत्पन्न होता है और वर्ष का मुख्य-प्रधान या मुख होता है। फिर पढ़ें– (क) यद् वसंतः। यो वसंत अग्निम् आधत्ते। मुख्य एव भवति। अथो योनिमन्तम् एवैनं प्रजातम अधत्ते। ग्रीष्मे राजन्य आदधीत्। ग्रीष्मो वै राजन्यस्य ऋतुः। स्व एवेनम् ऋतव् सफाय। इंद्रियावी भवति। शरदि वैश्य आदधीत। शरद् वै वैश्यस्य ऋतुः (तैत्तिरिय ब्राह्मण 1.1.2.7)। (ख) संवत्सर :- एशोऽग्निः। संवत्सर ही अग्नि है जो ऋतुओं को धारण करता है– स ऋतव्याभिः संहिताः। संवत्सरेमेवैत-ऋतुभिः-संतनोति, सन्धाति।। (शतपथ ब्राह्मण 6/2/2/18)। (ग) संवत्सरो विष्णुवर्णैः। (1.12) अनुवाक् 12, तैत्तिरीयारण्यकम् प्रपाठकः 1।

वसंत संवत्सर की पहली ऋतु है और वर्ष का सिर या मुख है। अक्सर पूछे जाने वाले प्रश्न यह हैं कि, 'वसंत कभी भी मुख्य बिंदु वसंत विषुव से शुरू नहीं होता है और इस प्रकार नए साल का निर्धारण केवल वसंत ऋतु से नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वसंत विषुव तो वसंत ऋतु का चरम/मध्य है और वसंत के पहले एक महीने की समाप्ति के बाद आएगा इस कारण से, यह माना गया कि वैदिक और ब्राह्मण काल के दौरान भारतीयों को संवत्सर का पालन करना नहीं आता था। क्या हमारे पास ऐसे प्रश्नों का कोई समाधान है?

उपरोक्त भ्रम के लिए मुझे एक प्रमाण मिला, जो हमें ऐसी दुविधा से बचाता है, ऐतरेय ब्राह्मण के शब्द 'अग्नि' में, जिसमें कहा गया है कि विष्णु वह दिन है जो संवत्सर को जन्म देता है, 'संवत्सरः हि एतद् अहः आप्नोति'। इस जटिलता के लिए, जिसे ऐतरेय ब्राह्मण द्वारा संबोधित किया गया है, हमें तैत्तिरीय ब्राह्मण पाठ से एक और प्रामाणिक श्लोक मिलता है, जो वैदिक काल में वर्ष की शुरुआत की स्थिति को हल करता है। नीचे उल्लिखित अनुवाक वर्ष की शुरुआत के सभी संदेहों को दूर करता है।

विषूवान् दिवाकीर्त्यम्। यथा शालायै पक्षसी। एवम् संवत्सरस्य पक्षसी। दो विषुव महिमा से भरे हुए हैं। वे एक घर की बाहरी दीवार या वर्ष के दो पखवाड़े के समान हैं।', अनुवाक 1-2-3-1 (खंड 6) तैत्तिरीय ब्राह्मण। तैत्तिरीय आरण्यक कहता है– धर्मः शिरस्तदयमग्निः ।4।17।1 अनुवाक 11, धर्म या ते दिवि शुक्। या गायत्रे छन्दसि।4।11।11 अनुवाक 19-अग्निरसि वैश्वानरोऽसि। संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसि। इदावत्सरोऽमीदुवत्सरोऽसि। इद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽमि। तस्य ते वसन्तः शिरः।... ऋतवस्ते कल्पन्ताम्। संवत्सरस्ते कल्पन्ताम्। अहोरात्राणि से कल्पन्ताम्। एति प्रेति वीति समित्युदिति। प्रजापतिस्त्वा सादयतु। देवतयाऽङिगरस्वद्ध्रुवः सीद... 4।19।1 शब्दकल्पद्रुम का कहना है कि नया साल विषुव से शुरू होता है। समरात्रिन्दिवकालः। तत्पर्य्या। विपुवत् 2। इत्यमरः।। विषुपम् 3 विप्वक् 4 विश्वक 5। इति शब्दरत्नावली।। विपुणः 6। इति रामाश्रमः।। विपुवः 7। इति मुकुटः ते तु महाविपुवजलविपुवनामभ्या क्रमेण ख्याते। यथा– विपुवाभ्यां वत्सरः स्यादिति शब्दविदां मतम्। महाविपुवमाख्यातं कृतिभिश्चैत्रवचिह्नितम्। तथा स्याज्जलविपुवं क्रमादाश्विनचिह्नितम्।। इति शब्दरत्नावली।।

मुकुट कोशकार ने महा-विषुव और जल-विषुव का वर्णन किया है, जो मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् 6.14 में नए साल की अवधारणा अग्नि (वसंत से शरद ऋतु) और वरुण/सोम (शरद ऋतु से वसंत) की अवधारणा में समानताएं पाता है। इसके अलावा शब्दकल्पद्रुम वत्सरः का समर्थन करता है। यानी दो विषुव पक्षों से बना वर्ष; 'विषुवाभ्यां वत्सरः'। इसके अलावा यह सूर्यसिद्धांत के माध्यम से प्रमाणित है कि वसन्त से शरद ऋतु क्रांतिवृत्त स्थान देवताओं का है और शरद ऋतु से वसन्त क्रांतिवृत्त स्थान असुरों का क्षेत्र है या सूर्य उत्तरी गोलार्ध में वसंत ऋतु से शरद ऋतु तक देवताओं द्वारा देखा जाता है और सूर्य दक्षिणी

गोलार्ध में असुरों द्वारा देखा जाता है। उपरोक्त जांच संवत्सर की शर्तों को पूरा करती है। ये उपरोक्त पुनः खोजें अकादमिक जगत के इस विचार को गलत साबित करती हैं कि भारत में वैदिक या सैद्धान्तिक कैलेंडर, किसी एक संक्रांति से शुरू हुए थे यानी परमक्रांति-अयन से, और सभी भारतीय शास्त्र वर्ष की शुरुआत वसंत विषुव से संवत्सर से सहमत हैं। इस प्रकार पूरे भारत में विशु, बिहू आदि नामों के साथ नए वर्ष की नृवंशविज्ञान संबंधी स्मृतियाँ मौजूद हैं।

मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् के पूर्वोक्त दो वाक्यांश वसन्त में मघादि के बारे में निर्णायक साक्ष्य हैं। मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् 6.33 में अग्नि वसंत को वर्ष के पहले ऋतु के पहले इष्टक/ईंट के रूप में निर्दिष्ट करता है। मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् 6.14 पर वापस आते हुए, इसे अब आसानी से समझा जा सकता है। इसमें कहा गया है कि बारह महीने एक वर्ष बनाते हैं और वसंत (विषुव) में मघादि/अग्नि के शुरुआती बिंदु से लेकर शरद ऋतु (विषुव) में श्रविष्ठा/सौम्य के आधे तक, यहां सौम्य सूर्य के उत्तर में उगने वाले तारांकन का अनुमान लगाता है, जिसे समझा जा सकता है, मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् 7.1 और 7.4 की सहायता से। वही अनुवाक 7.1 और 7.4 वसंत संपात में अग्नि और शरद संपात में वरुण देता है। इस प्रकार कोई संदेह नहीं रह जाता। इस प्रकार ब्राह्मणों में मौजूद अग्नि-सौम्य/वरुण अवधारणा के माध्यम से वर्ष का सफल चक्र प्राप्त होता है। नीचे वह तालिका है जो पिछले शोधकर्ताओं और स्वयं लेखिका द्वारा किए गए शोध के बीच तुलना और अंतिम अंशांकन दिखाती है।

S. no.	मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद	AGNI	VARUNA	CALIBRATION
1	6.14 (पिछले शोधकर्ता)	दक्षिणायन में माना गया	उत्तरायण में माना गया	पिछले शोधकर्ताओं ने उत्तरायण में अग्नि और संवत्सर को मानने की पुरानी शैक्षणिक परंपरा और नीचे दिए गए खंड 2,3 और 4 के साथ तालमेल नहीं बिठाया।
2	6.33 संवत्सर का प्रारंभ	पहली ईंट वसंत है		पिछले शोधकर्ताओं ने आंतरिक साक्ष्यों के साथ जांच नहीं की।
3	7.1	वसंत में अग्नि		पिछले शोधकर्ताओं ने आंतरिक साक्ष्यों के साथ जांच नहीं की।
4	7.4		शरत में वरुण	पिछले शोधकर्ताओं ने आंतरिक साक्ष्यों के साथ जांच नहीं की।
5	6.14 (लेखक द्वारा पुनरीक्षित और संशोधित)	वसंत संपात में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है	शरत सम्पात में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है	लेखक आंतरिक साक्ष्य 2, 3, और 4 के साथ अंशांकन करता है

वसंत ऋतु में मघा नक्षत्र की स्थिति

मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् 1.4 में बृहद्रथ को अपने से पहले के राजाओं के नाम लेते हुए दिखाया गया है जो गुमनामी में चले गए हैं और अपने समय में महासागरों, नदियों के सूखने, पहाड़ों के गिरने और पृथ्वी के धंसने की वर्तमान स्थिति के प्रति पश्चाताप करते हैं। वह कहते हैं– अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्च-क्रवर्तिनः केचित्सुद्युम्नभूरिद्युन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौव-नाश्ववर्ध्यश्वाश्वपतिः शशबिन्दुर्हारिश्चन्द्रोऽम्ब-रीषो ननूक्तस्वयातिर्ययातिरण्योक्षसेनोत्थमरुत्तभरतप्रभृतयो राजानो मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वास्मा-ल्लोकादमुं लोकं प्रयान्ति।।1.4।। और इनमें से क्या? अन्य महान लोग हैं, शक्तिशाली धनुष धारक, साम्राज्यों के शासक, सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इंद्रद्युम्न, कुवलयश्व, यौवनाश्व, वर्ध्यश्व, अश्वपति, शशबिंदु, हरिश्चंद्र, अंबरीष, नहुष, अनानता, शर्याति, ययाति, अनरण्य, उक्षासेन आदि और मरुत्त, भरत (दौश्यंती-टिप्पणीकार की व्याख्या) और अन्य जैसे राजा, जिन्होंने अपने पूरे परिवार की आंखों के सामने सबसे बड़ी खुशी का त्याग किया, और इस दुनिया से उस दुनिया में चले गए। और इनमें से क्या? अन्य महान लोग भी हैं. हम गंधर्व, असुर, यक्ष, राक्षस, भूत, गण, पिशाच, साँप और पिशाचों का विनाश देखते हैं।।1.4।। 'अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणं सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरवाश्रि-तस्यासकृदिहावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ।।1.7।। इति प्रथमः प्रपाठकः।। और इनमें से क्या? अन्य बड़े महासागरों का सूखना, पर्वतों का गिरना, ध्रुव तारे का अपने स्थान से भ्रष्ट होना, तारों को पकड़ने वाली पवन रस्सियों का कट जाना, पृथ्वी का जलमग्न होना और देवताओं (सुर) का चले जाना अपने स्थान से। ऐसे संसार में सुख भोगने से क्या लाभ, यदि भोगने वाला बार-बार (इस संसार में) लौटता हुआ दिखाई दे! इसलिए मुझे इससे बाहर निकलने में मदद करें! इस दुनिया में मैं सूखे कुएं के मेंढक की तरह हूं। हे संत,

कृपया मेरा मार्ग दिखाओ, तुम ही मेरा मार्ग प्रशस्त कर सकते हो।' ।।1.7।।

पहला अवलोकन- अब तक यह स्पष्ट है कि वसंत विषुव मघा नक्षत्र में हो रहा था। हाल का वसंत विषुव लगभग 8000 वर्ष पहले इसी नक्षत्र में हुआ था। वंशावली अनुभाग में हम देखते हैं– 1. राजा बृहद्रथ एक प्राचीन राजा और इक्ष्वाकु वंश के प्राचीन ध्वजवाहकों (बृहद्रथइक्ष्वाकुवंशध्वजशिरशात्मजः) में से एक हैं। हमें यह नाम मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् और ऋग्वेद के बाहर नहीं मिलता। उन्होंने राम (रामायण) का भी उल्लेख नहीं किया है जो एक अच्छी तरह से स्थापित इतिहास है। 2. वह राजाओं के नामों का उल्लेख करता है और इक्ष्वाकु वंश के लिए हरिश्चंद्र पर रुकता है, भरत और मरुत्त-अविक्षित के साथ जो अन्य वंशों से प्रतीत होते हैं।

दूसरा अवलोकन- 1. वह सभी महासागरों के घटते स्तर को नोट करता है। 2. उन्होंने फिर से ध्रुव तारे के विशिष्ट ध्रुव-बिंदु से 'बहुत दूर' चले जाने की एक खगोलीय घटना को नोट किया।

लेकिन लेखक नोट करता है- तथ्यों को सत्य मानने के बाद लेखक ने पाया कि 8000-9000 ईसा पूर्व के मघादि में समुद्र के स्तर में गिरावट के बजाय समुद्र के स्तर में तीव्र वृद्धि के साथ-साथ होलोसीन काल का अनुभव हो रहा था। उपरोक्त यूस्टैटिक शोध से पता चलता है कि प्लेइस्टोसिन और होलोसीन के अंत के दौरान समुद्र का स्तर अभूतपूर्व रूप से बढ़ रहा था। इससे यह प्रश्न उठता है कि समुद्र का स्तर कब इतनी तेज़ी से गिर रहा था कि राजा बृहद्रथ को शाकायन्य के साथ प्रवचन करते समय इस घटना की याद आई। दी गई तस्वीर देखें जहां 22,000 ईसा पूर्व के दौरान समुद्र का स्तर सबसे कम था। कोई आसानी से देख सकता है कि 40,000 से 30,000 वर्ष के बीच अर्थात् आज से लगभग 36,000 वर्ष पूर्व के आसपास समुद्र के स्तर में तेज गिरावट आई थी। न केवल महाद्वीपीय परिधि के बाहर विश्व-समुद्र के स्तर में गिरावट आ रही थी, बल्कि अंतर्देशीय समुद्रों के स्तर में भी गिरावट देखी जा रही थी। यह वह समय है जब माघ विषुव के पूर्ववर्ती चक्र में वसंत विषुव पर था।

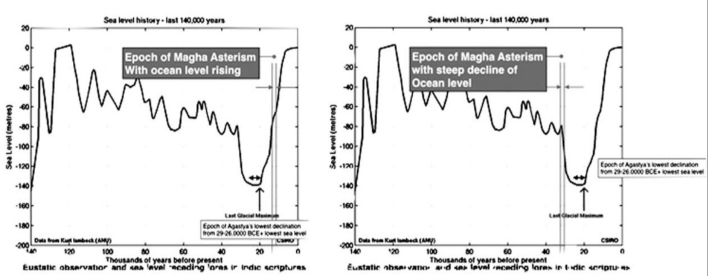

चित्र 1. 8000 ईसा पूर्व के दौरान वसंत ऋतु में मघादि बनाम 34500 ईसा पूर्व के दौरान वसंत ऋतु में

समुद्री ग्राफ कैस्पियन सागर में 40-20 ka के दौरान औसत समुद्र स्तर की उंचाई में तेज गिरावट दर्शाता है, जिसमें सबसे तेज गिरावट लगभग 35 ka वर्ष थी (तस्वीर 2 और 3 देखें)। यह एक विश्वव्यापी घटना थी। विशेष रूप से, इस इकाई के लिए युवा (17-13 ka) आयु, सबसे बड़े लेट क्वाटरनेरी ट्रांसग्रेशन द्वारा जमा की गई, अब व्यापक यूरेशियन पुराभौगोलिक तंत्र और इस तरह के चरम समुद्र-स्तर वृद्धि के निहितार्थों में आगे के शोध के लिए एक आधार प्रदान करती है, (लगभग –150 से >+ 40 मीटर ए.एस.एल.) केवल कुछ हजार वर्षों में। इस स्थिति ने कैस्पियन और काला सागर के आसपास बाढ़ के मिथकों को जन्म दिया होगा। स्तर इतना बढ़ गया कि कैस्पियन सागर से काला सागर मिलने लगा और काला सागर से एजियन सागर तक पानी बहने लगा। अब राजा बृहद्रथ के कथन की तुलना करें...

... 'और इनमें से क्या? 'अन्य महान महासागर' सूख रहे हैं, पहाड़ टूट रहे हैं... (मैत्रायणी आरण्याक उपनिषद्)।

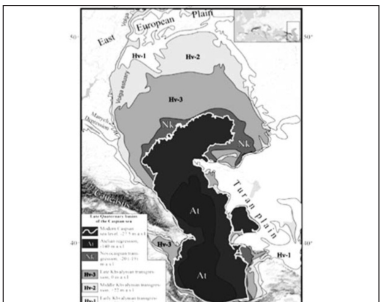

चित्र- 2.

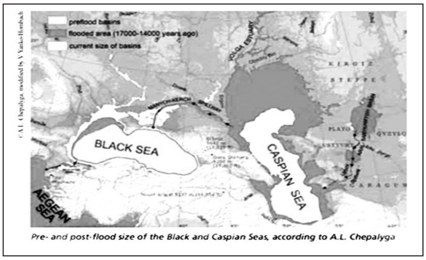

Pre- and post-flood size of the Black and Caspian Seas, according to A.L. Chepalyga

चित्र 2 और 3. कैस्पियन सागर का मानचित्र, जो प्रारंभिक से अंतिम ख्वालियन अतिक्रमण को दर्शाता है।

यहाँ राजा द्वारा बहुवचन में 'महासागरों' को ध्यान में रखा गया है जो एक बिंदु पर आश्चर्यजनक है। इसके अलावा कुछ पर्वत चोटियों पर उंची अस्थिर हिमनदी भी गिरने वाले पहाड़ों का कारण हो सकती है। लेकिन हम जानते हैं कि महासागर-तट, नदियाँ, बड़ी झीलें रहने योग्य भूमि, जानवरों और भोजन की तलाश में लोगों के लिए शुरुआती प्रवासी मार्ग प्रदान करती थीं। वे पानी के सहारे टिके रहने के लिए इनके किनारे-किनारे यात्रा करते थे। प्रारंभिक मानव अत्यधिक गतिशील थे। भारतीय ग्रंथ, रामायण आदि इसके प्रमाण हैं। आनुवंशिक अध्ययन से पता चलता है कि अतीत में इन गैर-विनाशकारी और विनाशकारी अवधियों के दौरान समय-समय पर यूरोप और उत्तरी एशिया की ओर कई प्रवास हुए हैं। भारतीयों ने भारतीय ग्रंथों में ऐसी विनाशकारी घटनाओं को दर्ज किया है जो स्मृतियों में अंकित हैं और ऐसी तीन घटनाएं समुद्र के सूखने के उदाहरण हैं - एक है 'अगस्त्य द्वारा समुद्र को पीना और भगीरथ द्वारा इसे फिर से भरना' और दूसरी घटना है परशुराम की, जो समुद्र से केरल की भूमि को पुनः प्राप्त करता है। ये बृहद्रथ के मैत्रायणी आरण्यक उपनिषद् में मौजूद महासागरों के सूखने के बयान से अलग हैं। यह एक संयोग नहीं है। ये उन युगों का वास्तविक तथ्यात्मक इतिहास प्रतीत होता है। आम तौर पर दुनिया में बहुत निकट अतीत के बाढ़ संबंधी मिथक हैं। भारतीय ग्रंथों ने मौखिक परंपरा के कारण स्मृतियों को धार्मिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित किया। इनमें प्राचीन काल के इतिहास के रूप में भू-खतरों को शामिल किया गया है। ऐसा केवल वैदिक भारत में ही हो सकता था। अतीत के इतिहास, दर्शन और विज्ञान के ज्ञान को इस रूप में प्रसारित करने की विशिष्टता हमें दुनिया की किसी भी अन्य संस्कृति में नहीं मिलती है। नीचे पर्यावरणीय परिवर्तनों के साथ पुराजलवायु और भू-खतरे के अधिक गहन विश्लेषण के बाद हम बृहद्रथ के समय के समान निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिन्होंने विशिष्ट ध्रुव तारे 'वेगा' के 'ध्रुव बिंदु' से 'बहुत दूर' बहने की एक खगोलीय घटना को नोट किया, जो 38000 ईसा पूर्व में एक ध्रुव तारे के रूप में काम करता था।

निष्कर्ष :

1. छठे और सातवें प्रपाठक के विभिन्न खगोलीय आंतरिक साक्ष्यों के साथ यह पाठ माघ नक्षत्र के वसंत विषुव के अनुरूप है। इस प्रकार, इसका काल लगभग 34,500 ईसा पूर्व सही है, जिसमें दुनिया भर के अन्य महासागरों के साथ अंतर्देशीय समुद्रों के विभिन्न घटते समुद्री स्तर के पुष्ट साक्ष्य हैं।

2. एक गतिशील ध्रुव तारा, अनुदैर्घ्य तारे की स्थिति में परिवर्तन, और तीसरा, अन्य खतरों के साथ-साथ 'महासागरों के सूखने' के बारे में अत्यंत महत्वपूर्ण भू-खतरा और यूस्टैटिक जानकारी मैत्रायणी अरण्यक उपनिषद् नोट करता है। साक्ष्य 34,500 ईसा पूर्व के मघा काल की ओर इशारा करते हैं, जो कि विशिष्ट पिछले ध्रुवतारा वेगा (38,000 ईसा पूर्व) से 'दूर' बहते समय समुद्र के स्तर में लगातार तेज कमी के कारण निर्धारित किया गया था। हमने अन्य विज्ञानों जैसे कि खगोल विज्ञान, भूविज्ञान, नदी आकृति विज्ञान, समुद्र विज्ञान, समुद्र के यूस्टैटिक अध्ययन, अंतर्देशीय समुद्र का अतिक्रमण, स्पेलोथेम अध्ययन, भारतीय ग्रीष्मकालीन मानसून अध्ययन, हिमनद अध्ययन से प्राप्त साक्ष्यों और निष्कर्षों को पुष्ट करने और वसंत विषुव पर पहुंचने के लिए नियोजित किया है। नक्षत्र मघादि विषुव के पूर्ववर्ती चक्र से यानी 34,500 ईसा पूर्व से।

3. बृहद्रथ नाम का एक बहुत पुराना इक्ष्वाकु वंशीय शासक यौवनाश्व (मंधात्र), अंबरीष (मंधात्र का पुत्र), नहुष, अनरण्य, ययाति (नहुष का पुत्र), हरिश्चंद्र आदि जैसे नाम प्रदान करता है। उसकी ऐतिहासिक स्थिति व्यापक है। इससे इस सिद्धांत को बल मिलता है कि

बृहद्रथ बहुत पुराना राजा था। ऋग्वेद के पहले और दसवें मंडल में राजा बृहद्रथ की यादें भी हैं, जो उन्हें कम से कम 36,000 साल पुराना बनाती हैं।

संदर्भ :

1. IYENGAR RN, Indian Journal of History of Science, 46.1 (2011) 23-39. "DHRUVA THE ANCIENT INDIAN POLE STAR: FIXITY, ROTATION AND MOVEMENT". **2.** Oak Nilesh ; (2011), "Historic Rama". **3.** Bhaty Rupa (2020). INDICA Conference 2020; INDICA Journal. "Revisiting Agastya-Vindhya Lore with a New Evidence from Parasaratantra". **4.** P.M. Dolukhanov*,1, A.L. Chepalyga2, V.K. Shkatova3 and N.V. Lavrentiev2; School of Historical Studies, Newcastle University, UK; 17-Sep-2008, "Late Quaternary Caspian: Sea-Levels, Environments and Human Settlement". **5.** Gupta Anil; July 2015; "Abrupt changes in Indian summer monsoon strength during 33,800 to 5500 years B.P". **6.** List of Kings https://en.wikipedia.org/ wiki/ List_of_Ikshvaku_dynasty_kings_in_Hinduism.

❑❑

मृगनयनी हाउस
बेंगलो सी-33, गोपालपुरी,
कस्टम कॉलोनी गेट के पास
गांधीधाम-370201
मो. 9825264558

❖ *अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः। ब्रह्मतत्वं न जानाति दर्वी सूपरसं यथा।।*

सिर्फ वेद तथा शास्त्रों का बार-बार अध्ययन करने से किसी को ब्रह्मतत्व प्राप्त नहीं होता। जैसे जिस चम्मच से खाद्य पदार्थ परोसा जाता है उसे उस खाद्य पदार्थ का गुण तथा सुगंध प्राप्त नहीं होता।

❖ *ऐक्यं बलं समाजस्य तदभावे स दुर्बलः। तस्मात ऐक्यं प्रशंसन्ति दृढं राष्ट्र हितैषिणः।।*

एकता समाज का बल है, एकताहीन समाज दुर्बल है। इसलिए, राष्ट्रहित सोचने वाले एकता को बढ़ावा देते हैं।

❖ *जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च।।*

जिस तरह बून्द-बून्द पानी से घड़ा भर जाता है, उसी तरह विद्या, धर्म और धन का संचय होता है। सारांश कि कम मात्रा में होने पर भी इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

❖ *गौरवं प्राप्यते दानात् न तु वित्तस्य संचयात्। स्थितः उच्चैः पयोदानां पयोधीनां अधः स्थिति।।*

दान से गौरव प्राप्त होता है, वित्त के संचय से नहीं। जल देने वाले बादलों का स्थान उच्च है, जबकि जल का संचय करने वाले सागर का स्थान नीचे है।

❖ *परवाच्येषु निपुणः सर्वो भवति सर्वदा। आत्मवाच्यं न जानीते जानन्नपि च मुह्यति।*

हर मनुष्य दूसरे के दोष दिखाने में प्रवीण होता है। अपने खुद के दोष या तो उसे नजर नहीं आते, या फिर वह उन दोषों की अनदेखी करता है।

बौद्ध जातक कथायें : प्रबंध-शास्त्र की अमूल्य धरोहर

डॉ. जसवीर चावला

भगवान बुद्ध के निवास-स्थल जेतवन विहार में सिर्फ भिक्षुओं की धर्म-साधना और शिक्षा-दीक्षा का कार्य ही चलता हो, ऐसा नहीं था। गौतम बुद्ध का धर्म प्रचार का केद्र भी यहीं था। इसलिये विहार के प्रबंधन के साथ-साथ आम जनता की समस्याओं का सामाधान भी वे वहीं करते थे। विहार का अनुशासन और भिक्षुओं की दिनचर्या को धर्मानुकूल ढंग से निष्पादित करते हुए महात्मा बुद्ध विहार के बाहर की गतिविधियों से भी परिचित रहते थे तथा समाज में एक नई जीवन-शैली विकसित कर रहे थे जो मानवीय गुणों से लैस हो। इससे जीव-हिंसा, लूट-खसोट, व्यभिचार, गाली-गलौज की जगह आम लोगों में अहिंसा, सत्य, करुणा परोपकार जैसी वृत्तियों का समावेश होने लगा था। बुद्ध की कल्याणकारी वाणी से सभी प्रभावित थे। चोर, उचक्के, वेश्यायें, समाज का दलित वर्ग आदि तो विहार में उनके दर्शन करने, प्रवचन सुनने आते ही थे अन्य आम गृहस्थ भी शंकाओं के धर्मानुकूल समाधान के लिये, बुद्ध वंदना के लिये धूप-चंदन-नैवेद्य, पुष्पादि लेकर आते थे। ऐसा विवरण कई जातक कथाओं के वर्तमान कथा वाले हिस्से में मिलता है। बुद्ध सबसे मिलते थे। वहां राजा-रंक सभी बराबरी का दर्जा पाते थे। उनके बात करने का ढंग बिल्कुल अलग था, वे इस बात का पूरा ध्यान रखते थे कि सुनने वाले आगंतुक का हृदय आहत न हो। यदि उसकी कोई गलती है, तो भी वे बहुत ही सुंदर तरीके से कहानी के माध्यम से अपना विचार संप्रेषित कर देते थे। अतीत कथा कहने का उनका यह ढंग अद्‌भुत होता था वे सुनने वाले को ताड़ लेते थे, किस-किस पृष्ठभूमि से आया है यह मिलने वाला और उसकी समझ के अनुसार ही अतीत का कथा-निर्माण करते थे और उसी तरह की घटनाओं, जो उसके समाजिक आर्थिक स्तर से मेल खाती हों, का चुनाव करते थे। वैसे ही पात्र गढ़ते थे और उनका नामकरण भी वैसा ही करते थे ताकि श्रोता उदाहरण-कथा के मर्म को आसानी से समझ सके। इसी कारण, कई जातक कथाओं की घटनायें और पात्र लगभग समान लगते हैं। थोड़ा सा फेर-बदल कर वे उसे नये पात्र के अनुकूल बना देते थे। मंशा सिर्फ इतनी होती थी कि श्रोता मनोवैज्ञानिक स्तर पर बात को समझ ले, अपना सुधार कर ले। कई बार तो पूर्व समय की कथा कहते जोर डालते कि तुम भूल गये हो वरना यह बात तुम्हें पता है! कठिन से कठिन समस्या होने पर भी वे श्रद्धालु को किसी मंत्र-तंत्र के चक्कर में नहीं डालते, न पूजा-पाठ से समस्या को काटने पर अड़ते, वे तर्क संगत एक समाधान जो पूर्णतः मानवीय होता और बुद्ध धर्म के सिद्धांतों पर होता, बता देते, वह भी अतीत-कथा के बोधिसत्व के शब्दों में। वे इसी विश्वास को दृढ़ करते कि गंडा-ताबीज आदि श्रोता की संकल्प-शक्ति को जगाने के लिये अतिरिक्त साधन हैं, परन्तु श्रोता मानसिक रूप से तैयार नहीं है तो इन सब का कोई लाभ नहीं। उदाहरण-कथा के द्वारा संदेश बिल्कुल साफ नजर आने लगता। तथापि, बुद्ध की ओर से उसकी विज्ञापन-बाजी या मशहूरी नहीं है। शास्ता ने तो

महज एक रास्ता सुझा दिया है। एक विकल्प मौजूद है। करना तो आपको ही है! बात समझ आ गई है, आप को यकीन आ गया है? करना चाहते हैं तो करें, लाभ होगा! नहीं तो, दूसरे जो विकल्प हैं, उन्हें भी आजमायें! इस तरह की कई बार पेचदगी-भरी समस्यायें लेकर श्रद्धालु आ जाते थे जिनका धर्म से लेना देना नहीं है, बल्कि उनके जीवन प्रबंधन से सम्बंधित हैं। तो शास्ता वहाँ भी कोई जिद नहीं थोपते! विहार में आये हैं, प्रव्रज्या लेकर भिक्षु जीवन निर्वाह करें अथवा दर्शन कर लौट जायें। यह आगंतुक की मर्जी है। कई बार कोई उपासक बहुत दिनों बाद आता तो पूछ जरूर लेते क्या बात है भई बहुत दिनों बाद आये! जाहिर है, भिक्षु अपनी परेशानी बतायेगा। तब शास्ता उसका प्रबंधन एक विशिष्ट ढंग से करते। यही प्रबंधन जातक कथा है।

जातक-कथा कहने की उन दिनों एक विशिष्ट शैली हुआ करती थी। किस राजा के शासन काल की कथा है, यह सूचना सबसे पहले दी जाती थी। प्रत्येक जातक कथा वाराणसी में ब्रह्मदत्त के शासन काल में घटित हुई। ब्रह्मदत्त का बेटा भी उसी नाम से शासन करता था, कइयों में उल्लेख है। यदि जातक कथा को भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्म से जोड़ा जाये तो भयंकर भूल होगी! तब ब्रह्मदत्त की आयु का हिसाब लगाना असंभव है। या उसे अत्यंत दीर्घायु, बुद्ध की कई जिंदगियों के बराबर रखा जाये? यह कोशिश बेमानी है। हालाकि जातक कथा के अंत में ऐसी पंक्तियाँ आती हैं कि अब का यह भिक्षु या उपासक अतीत कथा का यह पात्र था और बोधिसत्व तो मैं ही था। ऐसा कहने से श्रोता पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है कि यह सब मिथ्या नहीं है। जातक कथा आरंभ में ही कही श्रोता को दुगुना चौकन्ना करने के लिये पूर्व जन्म की कथा के रूप में कही होती है और उसका पता आध्यात्मिक शक्ति संपन्न बुद्ध को ही हो सकता है, दूसरों को नहीं। श्रद्धालु इसी कारण उत्साहित भी होता है, जिज्ञासु भी। इस ढंग का आभास जातक के अध्येता को होता ही है, क्योंकि कइयो में यह बिल्कुल साफ है।

उदाहरणार्थ एक पद जातक कथा (238) प्रबंध शास्त्र के महत्वपूर्ण विषय दक्षता को विश्लेषित करती है। आज कल की मैनेजमेंट डिग्री में भी यह अनेक अर्थ सूचक है जोकि एफीसियेंसी, उत्पादकता, मानव -श्रम, मशीनी-श्रम, सेवा, निष्पादन-क्षमता इत्यादि कई स्तरों पर परिलक्षित होती है। विषय एवं क्षेत्र विशेष को ध्यान में रख इसे एक अनुपात में भी व्यक्त किया जाता है। जो लगाया गया और जो प्राप्त हुआ, उसका संबंध ही प्रबंधकीय दक्षता का सूचकांक मान लिया जाता है। कोई कितना दक्ष है, इसका मूल्यांकन करने के लिये इसका प्रतिशत ज्ञात करना यथेष्ट होता है। अब इस अद्यतन प्रबंधकीय अवधारणा को बुद्धकीय या जातक कथाओं में प्रबंधन में किस तरह व्याख्यायित किया जा सकता है इसकी उदाहरण कथा है एक पद-जातक।

आरंभ की पंक्ति वही है जातक कथाओं में होती है कि शास्ता बुद्ध जेतवन विहार में हैं। एक गृहस्थ के विषय में कही गई है यह कथा। इसके बाद हर जातक अट्ठकथा की भाँति इसके दूसरे अंग 'वर्तमान कथा' में यह उल्लेख है कि श्रावस्ती निवासी एक गृहस्थ था। एक दिन उसकी गोद में बैठे बालक अर्थात छः-सात वर्षीय बालक ने पूछ लिया कि अर्थ का द्वार क्या है? पिता को क्या, किसी को भी आश्चर्य होता कि इतना छोटा बच्चा ऐसा प्रश्न पूछ रहा है जिसकी बड़े-बड़े अर्थशास्त्री चिंता करते होंगे। उस गृहस्थ के मन में आया कि इस प्रश्न का उत्तर यदि कोई दे सकता है तो वह हैं बुद्ध। सो वह पुत्र को लेकर शास्ता के पास जेतवन में पहुँच जाता है। प्रणाम करता है और घटना बताता है। तो शास्ता निर्विकार भाव से वही कहते हैं कि यह कोई नई बात नहीं है। पहले भी यह बालक बहुत जिज्ञासु था। इसने तपस्वियों से ऐसे प्रश्न भी किये थे। तपस्वियों ने उत्तर भी दिया था परंतु जन्मांतर होने से यह भूल गया है। अब यहाँ एक कथा का सूत्रपात होना स्वाभाविक है! जन्मांतर हुआ है अर्थात पहले जन्म में भी इस बालक ने आश्चर्यजनक प्रश्न किया था। क्या हुआ था पहले? इसकी जानकारी किसको है? सिवा बुद्ध के कोई नहीं जानता। वे सामने हैं बताने के लिये इसलिये पूरे मनोयोग से सुनो! श्रोता, जाहिर है, कई गुणा सचेत हो चुका है। तब 'अतीत कथा' अन्य जातककथाओं की शैली में आरंभ होती है :– पूर्वकाल में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। बोधिसत्व सेठ कुल में पैदा हुआ। बड़ा हुआ। पिता का स्थान लिया। उसके पुत्र ने

जब वह गोदी का बालक ही था, पिता से पूछ लिया- तात, एक पद या कोई एक बात ऐसी बतायें जो अनेक पदों या अर्थो से युक्त हो, और लाभ सिद्ध करने वाली हो। पिता तो नहीं बता सका, पर बोधिसत्व ने बताया– दक्षता! दक्षता का अर्थ है, लाभ उत्पन्न करने में निपुण, कुशल मनुष्य का ज्ञानपूर्ण प्रयत्न

इसी तरह उदाहरणस्वरूप पादञ्जली जातक (247) को ले सकते हैं। जेतवन विहार में रची गई इस कथा का लक्ष्य लालुदायी नामक स्थविर है। पहले भी उसके बारे कुछ कथायें उसकी मूर्खता और अनुचित आचरण पर पढ़ने को मिलती हैं। यहाँ वर्तमान कथा में उसके होंठ चबाने की आदत पर व्यंग्य किया गया है। दरअसल जेतवन विहार में धर्म-सभा में भिक्षु आपस में बातचीत किया करते थे। कई बार प्रधान शिष्य आपस में वाद-विवाद भी किया करते थे। धर्म सभा में स्थविर (विहार के प्रभारी अधिकारी) भी उपस्थित होते थे। वे उनकी इस प्रतिभा की प्रशंसा करते थे, आवश्यकतानुसार सुधार भी करते थे। सादञ्जली जातक कथा में दो प्रधान शिष्य प्रश्नों पर विचार करते बताये गये हैं। बाकी भिक्षु इन विचारों को सुन रहे हैं और उनकी प्रशंसा भी बीच-बीच में करते थे। लालुदायी स्थविर अर्थात यह जाहिर करते कि वहाँ थे। प्रशंसा सुनकर वे मुँह बिचकाते, होंठ चबाते हमारे बराबर ये क्या जानते हैं? उनके इस प्रकार आशय को कई भिक्षुओं ने संज्ञान में लिया और इसी बात की चर्चा वे आपस में करने लगे कि एक स्थविर लालुदायी हैं जो खुल कर कुछ कहते नहीं, होंठ चबाते हैं। अगर शिष्य गलत विचार दे रहे है तो भी साफ-साफ कहें कि फलाँ गलत विचार है, कोई सही कह रहा है तो खुलकर सहमति जतायें, यह होंठ चबाने से क्या समझे कोई? यहां शास्ता उनकी इस बातचीत में एक प्रबंधकीय समस्या देख रहे हैं। वह यह कि इससे एक गलत संदेश फैल रहा है। मन से ईर्ष्या का भाव विच्छेद करता है बुद्ध शासन, तो फिर स्थविर लालुदायी का इस प्रकार अभिनय करना भिक्षुओं में एक नाकारात्मक अनुभव दे रहा है, इसका प्रबंधन होना चाहिये। दूसरा प्रबंधक होता तो लालुदायी के खिलाफ कटुवचन बोल देता। परंतु वे इस पर विनोदपूर्ण उपेक्षा-भाव ही दर्शाते हैं कि पहले (पूर्वजन्म में) भी इस लालुदायी को होठ चबाने के अतिरिक्त कुछ नहीं आता था। जाहिर है भिक्षुओं के लिये यह एक अनजानी अनसुनी बात है और इसे केवल शास्ता ही जानते हैं, इसलिये भिक्षु जिज्ञासु हो जाते हैं। तो शास्ता एक अतीत कथा सुनाते हैं, शैली वही है– पूर्व समय में वाराणसी-नृप ब्रह्मदत्त के राज्य करते बोधिसत्व उसके धर्म-अर्थ अनुशासक अमात्य हुए। राजा का एक पुत्र था। उसका नाम पादञ्जली था जो मूर्ख और आलसी था। कालांतर में जब राजा का निधन हो गया तो उत्तराधिकारी कौन? इस बात पर अमात्यों ने विचार किया कि पादञ्जली राजा का बेटा तो है परंतु राज-काज चला पायेगा, इसमें संदेह है। तो कुछ ने कहा परीक्षा कर लेते हैं। क्योंकि राजा ही परम न्यायकर्ता भी होता है, सबसे बड़ा निर्णायक भी होता है; तो उसमें इतनी बुद्धि और प्रज्ञा तो होनी ही चाहिये कि वह गलत और सही को समझ सके। तो अमात्यों ने सम्पति के स्वामित्य संबंधी एक मुकदमा बनाया। अगले दिन राज दरबार में उस मुकदमे की कार्रवाई शुरू की गई। पादञ्जली को बिठाकर उसके सामने वादी-विवादी पक्षों की दलीलें हुई। झूठी दलीलों का सहारा लेकर स्वामी को अस्वामी बना दिया। पूछा– कुमार! क्या हम लोगों ने सही निर्णय किया? कुमार ने होंठ चबाये। अमात्य रूपी बोधिसत्व ने समझा मालूम होता है कुमार पंडित है, वह समझ गया है मुकदमे का व्यवहार निर्णय उचित नहीं हुआ। इस पर यह गाथा कही-

अद्धा पादञ्जली सब्बे, पञ्जय अतिरोचति ।
तथा हि ओट्ठ भञ्जति, उत्तरि नून पस्सती ति।।

अर्थात पादञ्जली निश्चय ही प्रज्ञा में सबसे बढ़कर है, इसीलिये होंठ चबाता है। निश्चय ही इसे दूसरी बात दिखायी देती है, यानि गड़बड़ का उसे पता चल गया है, परन्तु कुछ कह नहीं रहा। अमात्यों की इज्जत रखने के लिये, बस होंठ चबा के नाराजगी जाहिर कर रहा है, है समझदार! अमात्यों ने दूसरे दिन फिर एक मुकदमा खड़ा किया। उसका वाद-विवाद का नाटक चलाया और स्वामी को स्वामी बना सही निर्णय कर कुमार पादञ्जली से पूछा कि ठीक फैसला हुआ है या नहीं– कुमार ने फिर होंठ चबाये। तब बोधिसत्व ने यह गाथा कही–

नायं धम्मं अधम्मं वा, अत्थानत्थञ्च बुज्सति।

अञ्जत्र ओट्ठनिब्भोगा, नायं जानाति किञ्चनन्ति।।

यह धर्म-अधर्म, अर्थ-अनर्थ कुछ नहीं समझता। यह होंठ चबाने के अतिरक्त और कुछ नहीं जानता है। तो कुमार पादञ्जली की मूर्खता का पादार्फाश हो गया। सबको उस मूर्ख की पहचान हो गई। अब उसे राजा बनाने का अर्थ है, घोर अनर्थ। अतः बोधिसत्व को राजा बनाया गया। अंत में, धर्मदेशना के बाद परिणाम संघटित हुआ कि वह पादञ्जली ही लालुदायी है। पंडित अमात्य बोधिसत्व तो मैं था। मतबल भिक्षुओं को स्पष्ट संदेश है कि लालुदायी के आचरण को कतई गंभीरता से न लो। वाद-विवाद का उसको कुछ पल्ले नहीं पड़ा। कौन ठीक कह रहा है कौन गलत की समझ उसको नहीं है। ठीक है यह स्थविर-

जरूर है। जैसे राजा का लड़का था, उसका आदर सभी करते हैं। उसी तरह इस स्थविर का सम्मान करो। इस बात से आहत न होओ, उसने प्रशंसा नहीं की अथवा भाव दिखा दिया कि क्या जानते हैं ये लोग कथा में राजा ब्रह्मदत्त कौन है, इसका कोई मेल नहीं बैठाया गया क्योंकि जातककथायें जन्मों का मेल बैठाने वाली कथायें नहीं हैं। यह एक तकनीक है, संदेश स्पष्ट करने के लिये। बुद्धकीय प्रबंधन का गूढ़ आशय है इसमें कि मनो-मालिन्य को समझदारी से दूर कर लें। अपनी गुणवत्ता बनाये रखें। अपनी प्रज्ञा का विकास करते रहें। आत्म-विश्वास रखें। श्रोताओं-दर्शकों में जरूरी नहीं, पंडित और समझदार ही बैठे हों जो आपको दाद देते रहें।

अब यह कथन एक ढंग है प्रबंधन के एक विचार-विशेष को समझाने का। इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान में कही जा रही कथा के जो पात्र हैं वे अतीत कथा के रूप में वर्णित बोधिसत्व-काल के पात्र हैं। जातक कथाओं में बुद्ध के इस एक वाक्य "बोधिसत्व कोई और नहीं मैं था" ने बहुत बड़ी भ्रांति को जन्म दिया। चूंकि 547 जातक कथायें उपलब्ध हैं, इसलिये, सीधा-सीधा हिसाब लगा दिया गया कि बुद्ध के पहले 547 जन्म हो चुके थे तब जाकर उनको बुद्धत्व की प्राप्ति हुई। जबकि पहले उनके कितने जन्म हुए थे या नहीं हुए थे, इस सबसे जातक कथाओं का कोई लेना देना नहीं है। कई कथाओं में बोधिसत्व को वृक्ष-समुद्र-घास आदि बनाया गया है तो इनको कैसे समझायेंगे?

सच्चाई तो यह है कि दो हजार साल पहले बौद्ध पाली साहित्य में कहानी कहने की यह एक शैली थी। चंपू काव्य की तरह ही प्रत्येक जातक में गद्य और पद्य दोनों हैं। 'गाथा' पद्य में है जो बुद्ध द्वारा उच्चरित अंश बताया जाता है। उसमें ही हर कहानी का सार है। उसे ही आधार बनाकर कालांतर में बुद्धघोष और उनके शिष्यों ने अर्थ-कथाओं की रचना की। इनका उद्देश्य इन गाथाओं की मूलतः प्रबंधकीय था क्योंकि भिक्षु बुद्ध-शासन में रहते साधना से विचलित होते अथवा अनुशासन भंग करते तो उनकी शिकायत विहार के शास्ता (बुद्ध) तक पहुंचती। नियमित लगने वाली धर्म-सभाओं में भिक्षु इसकी चर्चा करते और शास्ता एक अतीत कथा बताकर इसका समाधान 'बोधिसत्व' नामक चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत करते। वे कभी किसी की निंदा या कोई असम्मानजनक बात सीधे कहने की बजाय एक तीसरे व्यक्ति की मार्फत कह देते थे। यही तीसरा चरित्र बोधिसत्व था जिसके बारे में कहानी के अंत में लिखा मिलता है कि वह कोई और नहीं मैं (बुद्ध) ही था। इस प्रकार, यदि यह कहा जाये कि जातक कथायें विचलन प्रबंधन की उदाहरण कथायें हैं तो अनुचित नहीं होगा।

चूंकि विहार के परिवेश में रहते हुए भिक्षु जो गलतियां करते हैं, वही बाहर वाले आम सांसारिक उपासक भी करते हैं। इसलिये इन उदाहरण कथाओं की उपयोगिता सार्वजनिक है। इनका उद्देश्य सम्यक आचरण द्वारा समस्याओं का निराकरण है, इस बुद्धकीय प्रबंधन का ढंग मानवीयता करुणा तथा परोपकार सहित है, शोषण से दूर है और अनुकरणीय है।

❑❑

पोस्ट बॉक्स नं.-13
123/1 सेक्टर-55 पलसोश, चंडीगढ़-160055
मोबाइल-8847651213

रामचरितमानस की एक प्राचीन प्रति

डॉ. रामकिशन पोहिया

गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस की एक प्राचीन प्रति राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में है। जिसमें प्रथम तीन काण्डों में तो लिपिकाल लिखा है, शेष चार कांडों में लिपिकाल नहीं लिखा है। प्रति में 9-10 पंक्तियां हैं। परिचय निम्न प्रकार है—

1. बालकाण्ड : ।।श्रीमते रामानुजाय नमः।। वर्णानामर्थसंघानां रसानांछन्दसामपि।। मंगलांनांचकर्त्तारौ वंदे वाणी विनायकौ।।1।। अंत- दोहा- कठिन सुकलिमलयसिततन, साधन कछुयत होई। यह विचारि विस्वास करि, हरि सुमरो सब कोई। सोरठा- मन हरिपद अनुराग, करउसाग नाना कपट, महामोह निसी जाग। सोबत बीते काल बहु। सीय रघुवीर विवाह। जेस प्रेम गावहि सुताह। तीन कह सदा उछाह। मंगलाय तन सम जस।।1।। पुष्पिका– ।।इतिश्री रामचरित मानसे।। सकल कलुष विध्वंसने ।। ज्ञान भक्ति संपादने।। बालकांडनामने।। प्रथमोसो-पाने।। प्रथम सोपान।। संवत 1603बि.।

2. अयोध्याकांड : आदि – श्री रघुनंदनाय नम।। यश्यांकेचविभाति भूधर सुतादेवायगामस्तके।। भाखेलेनाल विधुर्ग लेचगारलंयस्यो रसि व्याल राट।। सोयंमूर्ति बिभूषणं सुखकर सर्वाधिपः सर्वदा सर्वसर्बगत शिवः सशिनिभः श्रीशंकरः पातुमा।।1।। अंत- सोरठा- भरथतरित करि नेम। तुलसी सादर जे सुनहि सियरामपद प्रेम। अवसिहोयी भवसर बिरति।।315।। पुष्पिका– ।।इतिश्री रामचरित मानसे सकल कलिकलुष विध्वंसने अबिरल राम भक्ति संपादने अजोध्या कांडे द्वितीय सोपानः।।2।। श्री सं. 1623 विक्रम चैत्र 11 सुदी 2 बुधवार लेखक।। तुलसीदास गोसाई।।

3. आरण्यकाण्ड : आदि– श्री गणेशाय नमः।। श्री जानकी बल्लभाय नमः।। मूलं धर्म्मतरोर्बिवेक जलधे पूणेन्दू मानंददं।। बैराग्यां बुज भाष्करं द्राखिन ध्वांता पह सागह मोहां भोधर पूंग पाटन बिधौरव संभवं शंकरं बन्दे ब्रह्म कुलंकलंक समनं श्री राम भूप प्रियं।।1।।

अंत– दीपसिखा सम जुवति। तनमनजनिहो सिय तंग। भज हे राम तजि काम गदा करहि सदासंग।।40।। पुष्पिका–इतिश्री रामचरित मानसे सकलकलिकलुखविध्वंसने बिमल वैराग्य संपादिनी नाम तृतीय सोपान।।3।। आरण्यकांड संपूर्ण।। सं. 1624 शुभं भवतु।। विक्रम फाल्गु।। कल्याणमस्तु।। ण सु 2 भौमबार।। श्रीरस्तु।। श्री हरि।।

समीक्षा :- बालकांड के अंत में संवत 1603 लिखा है जो गहरी स्याही में है। ऐसा लगता है कि संवत 1622 या सं. 1623 को संवत् 1603 लिखा हो? इसमें 6 का अंक 6 लिखा है जबकि पत्र संख्या 116 में। 6 का अंक 6 लिखा है। इस कारण लिपि संवत् 1603 संदिग्ध सा प्रतीत हो रहा है। सही लिपि संवत् 1622 या 1623 हो सकता है।

अयोध्याकांड में लि.काल सं. 1623 वि. चैत्र सुदी 7 बुधवार लिखा है तथा लेखक का नाम दुलसी दास गोसाई लिखा है। इसमें संवत 1623 विक्रमी तो उसी लेखक की लिपि है, किन्तु लेखक

किसी 'तुलसी दास गोसाई' अन्य लेखक की लिपि है। इंडियन एफेमेरीज (700-1799 ए.डी., स्वामी कन्नू पिल्लई कृत) से मिलान करने पर संवत् 1623 वि. चैत्र सुदी 7 को बुधवार न होकर शुक्रवार है जिसकी अंग्रेजी तारीख 26.4.1566 ए.डी. है।

अरण्य कांड के अंत में सं. 1624 वि. तो मूल लेखक की लिपि है, किन्तु 'विक्रम फाल्गुण कल्याणमस्तु सुदी 2 भौमवार' अन्य लेखक की प्रतीत होती है। इंडियन एफेमेरीज के पंचांग (तिथि पत्रक) से मिलान करने पर सं.1624 फाल्गुण सुदी 2 भौमवार तिथि सही मिलती है जिसकी अंग्रेजी तारीख 11.2.1567 ए. डी. है, वार भौमवार (मंगलवार) ही है। इसलिए यह अरण्यकाण्ड स्वयं तुलसीदास गोस्वामी का समकालीन हो सकता है।

विद्वान तुलसीदास (सं.1568-1680, ई. सन 1511-1623) की 'मानस' का रचना-काल सं. 1631-32 वि. मानते हैं। किन्तु विवेच्य हस्तप्रति के अनुसार सं. 1624 वि.का अरण्यकाण्ड है, तो किष्किन्धाकाण्ड सं. 1625 वि. का, सुन्दरकाण्ड सं. 1626 वि. का, युद्ध या लंका काण्ड सं. 1627 का और उत्तरकांड सं. 1628 का होना चाहिये। इस तरह 'रामचरितमानस' की रचना वि.सं. 1628 (ई.सन् 157-71) को सम्पन्न।

1. इंडियन एफेमेरीज (700-1799 ए.डी.), स्वामी कन्नू पिल्लई, मद्रास प्रिंटेड बाई द गवर्नमेंट प्रेस मद्रास ऑथोरिटी ऑफ द गवर्नमेंट मद्रास, प्रकाशन जन.1922 ई.।

2. ... वही, वही।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की अलवर शाखा में 'मानस' की प्राचीन प्रति सं. 1771 वि. की है। इस संबंध में गीता प्रेस गोरखपुर से पत्र व्यवहार करने पर पत्रोत्तर प्राप्त नहीं हुआ। शाखा जयपुर में 'मानस' की प्राचीन प्रति 18वीं शताब्दी वि. सं. की हैं। उदयपुर शाखा में प्राचीन प्रति सं. 1771 वि. की है। वृंदावन शोध संस्थान में 'मानस' की प्राचीन प्रति 20वीं शताब्दी वि. की है। प्रस्तुत आलोच्य प्रति से ये सभी बाद की हैं। नागरी प्रचारिणी सभा काशी की हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज का पिछले 50 वर्षों का परिचयात्मक विवरण (वि. सं. 1957 से 2007 ई. सन 1900-950) में मानस की 4 प्राचीन प्रतियों का उल्लेख पृ. सं. 20 पर किया गया है–। महाराज बनारस की प्रति का सं. 1701 वि., 2. अयोध्या की प्रति सं. 1661 वि., 3. राजापुर की प्रति 17वीं शताब्दि वि., 4. सेवादास की प्रति सं. 1722 वि. सं. जो भारत कला भवन में है), परन्तु ये (सभी) प्रतियां भी आलोच्य प्रति से बाद की हैं, गो. तुलसीदास के समकालीन नहीं हैं।

स्पष्ट ही प्रस्तुत आलोच्य प्रति गोस्वामी तुलसीदास की समकालीन और प्रामाणिक है। इस प्रति के आधार पर 'मानस' का रचनाकाल सं. 1623 वि. से सं. 1628 वि. के मध्य का निर्धारित होता है। विद्वान डॉ. ब्रजमोहन जावलिया ने इस शोधलेख का अवलोकन किया है।

1. हिन्दी- राजस्थानी, ह. लि. ग्रंथ सूची भाग-9 (अलवर संग्रह), प्रकाशन 1989 ई., ग्रंथ्यांक 159।

2. अलवर संग्रह भाग 5 (जयपुर संग्रह) 1985 ई.।

3. अलवर संग्रह भाग.13 (उदयपुर संग्रह) 1995 ई.।

4. ना. प्र. सभा काशी सं. 2003 वि.।

5. वृंदावन शोध संस्थान का पत्र दि. 12.1.08। प्रतिष्ठान के पूर्व निदेशक डॉ. पद्मधर पाठक से भी पत्र व्यवहार किया था। विद्वानों के समक्ष शोधलेख विमर्श हेतु प्रस्तुत है। डॉ. शक्तिकुमार शर्मा (वरिष्ठ शोध अधिकारी) ने भी इस लेख का अवलोकन किया है। डॉ. सत्येंद्र चतुर्वेदी ने भी विहंगावलोकन शोध लेख का किया है। डॉ. गंगाराम गर्ग भरतपुर ने इस लेख को उचित बताया है। प्रतिष्ठान के सेवानिवृत्त अधिकारी (एस.आर.ओ.) श्री ओमप्रकाश शर्मा ने तो इस शोध-लेख को राष्ट्रीय विमर्श के स्तर का माना है।

संदर्भ ग्रंथ-

1. रामचरितमानस- गोस्वामी तुलसीदास, लि.का. सं. 1623 से 1628 वि.। **2.** राज. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के हिन्दी-राजस्थानी, हस्तलिखित ग्रंथ सूची-पत्र, जोधपुर संग्रह। **3.** ना.प्र. सभा काशी की खोज रिपोर्ट।

❐❐

(वरिष्ठ शोध अधिकारी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, सिटी पैलेस, उदयपुर- 313001)

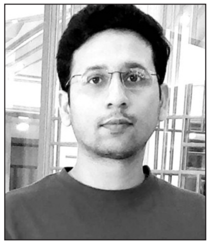

‘कामायनी’ की प्रतीक-संरचना

डॉ. परम प्रकाश राय

‘यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि, अपना ऐतिहासिक महत्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। इन्हीं सबके आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।[1] छायावाद के प्रमुख स्तम्भों में से एक कविवर जयशंकर प्रसाद ने अपनी महाकाव्यात्मक रचना ‘कामायनी’ के आमुख में मनु और श्रद्धा की ऐतिहासिकता, पौराणिकता और मिथकीयता पर चर्चा करते हुए कामायनी में अभिव्यक्त प्रतीकों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण संकेत दिए हैं जिनकी एक झलक ‘कामायनी’ के आमुख से लिए गए उपर्युक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है। संभवतः प्रसाद द्वारा बताये गए संकेतों और कामायनी की बहुव्यंजकता के आधार पर ही पर डॉ. नगेंद्र, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, कवि मुक्तिबोध प्रभृत विद्वानों ने कामायनी के प्रतीक-तत्व पर विभिन्न विचार प्रस्तुत किए हैं।

कामायनी की प्रतीक-संरचना पर बात करते हुए डॉ. नगेंद्र ने कामायनी को रूपक काव्य का दर्जा दिया है। रूपक के दो परम्परागत अर्थ माने जाते रहे हैं– ‘समस्त दृश्य काव्य’ तथा दूसरा ‘साम्यमूलक अलंकार’ जो उपमान-उपमेय के आरोप-संबंध से युक्त हो। लेकिन डॉ. नगेंद्र ने इन दोनों ही अर्थों में कामायनी के रूपकत्व को परिभाषित नहीं किया है। उन्होंने ‘कथारूपक’ यानी एलिगरी जिसकी कथा, प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूप में दो अर्थ प्रकट करती हो के अर्थ में कामायनी को रूपक-काव्य माना है।[2]

यदि हम कामायनी के विभिन्न पात्रों का संदर्भ लें तो मनु, श्रद्धा, इड़ा, मानव, आकुलि-किलात, देवता, पशु आदि बहुत गहरे अर्थों में मानवता के विकास की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। डॉ. नगेंद्र ने मनु को मनोमय कोश में स्थित जीव का प्रतीक बताया है। डॉ. नगेंद्र के अनुसार मनु अहंकार के भाव से ग्रसित है। इस अहंकार और स्वार्थ का उदाहरण कामायनी की इन पंक्तियों में स्पष्ट देखा जा सकता है– *वन, गुहा, कुंज, मरु, अंचल में/ हूं खोज रहा अपना विकास*[3]। अथवा *यह जलन नहीं सह सकता मैं, चाहिए- मेरा मत्व/ इस पंचभूत की रचना में, मैं रमण करूं बन एक तत्व*[4]। इसी प्रकार, श्रद्धा को डॉ. नगेंद्र ने अहंकार अथवा बौद्धिकता के विपरीत विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति के रूप में उदात्त भावनाओं का प्रतीक माना है। उदाहण– *नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास-रजत-नग पगतल में/ पीयूष-स्रोत सी बहा करो जीवन के सुंदर समतल में*[5]। अथवा

दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो, अगाध विश्वास/ हमारा हृदय-रत्न-निधि स्वच्छ, तुम्हारे लिए खुला है पास[6]।

इड़ा नामक पात्र की व्याख्या बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल के आधार पर आसानी से तर्क-बुद्धि और भेद-बुद्धि के रूप में की गई है। डॉ. नगेन्द्र ने देवों को अबाध इन्द्रियभोग का प्रतीक बताया है, जिसकी पुष्टि चिंता सर्ग की इन पंक्तियों से की जा सकती है–सुख केवल सुख का वह संग्रह केंद्रीभूत हुआ इतना/ छायापथ में नवतुषार का सघन मिलन होता जितना[7]। आकुलि-किलात को उन्होंने आसुरी वृत्तियों का प्रतीक माना है जो मनुष्य को दुष्कर्म के लिए प्रेरित करते हैं। मानव अथवा कुमार, श्रद्धा के बाद इड़ा के पास रहकर बड़ा होता है जो इस बात का प्रतीक है कि मानवता के विकास के लिए भावना और बुद्धि दोनों का संतुलन अत्यावश्यक है।

पात्रों के अलावा घटनाओं के स्तर पर भी 'कामायनी' में प्रतीक-संरचना का उद्घाटन डॉ. नगेन्द्र ने किया है। उनके अनुसार, जल-प्लावन की घटना अत्यधिक इन्द्रिय-लिप्सा के कारण होने वाली प्रलय की प्रतीक है। त्रिलोक, मानव-चेतना की तीन-प्रवृत्तियों–ज्ञान, क्रिया व इच्छा के समूहों का प्रतीक है जिनका समन्वय श्रद्धा के द्वारा हुआ है। इसी प्रकार उन्होंने कैलाश पर्वत को आनंदमय कोश अथवा समरसता का प्रतीक माना है और सारस्वत-प्रदेश को विज्ञानमयकोश का प्रतीक माना है, जहाँ बौद्धिकता और तार्किकता प्रमुख हैं।[8] कामायनी के प्रतीकों को पारम्परिक अर्थों में देखते हुए डॉ. नगेन्द्र ने भाववृत्ति को धर्म, कला से युक्त संस्कृति की परिचायक माना है; कर्मवृत्ति को राजनीति एवं अर्थव्यवस्था की तथा ज्ञानवृत्ति को दर्शन एवं विज्ञान का प्रतीक माना है। आधुनिक अर्थों में मनु को उस पूंजीवादी व्यक्ति का प्रतीक बताया है जो वैयक्तिकता, सुखवाद, अधिकतम अर्जन एवं लाभ पर बल देता है। इन अर्थों में श्रद्धा अहिंसा की प्रतीक, तो इड़ा सभी प्रकार के सुखों के संग्रह की प्रतीक है।[9]

नई कविता के प्रमुख कवि और समीक्षक मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' पुस्तक में कामायनी की व्याख्या आनंदवादी दर्शन अथवा दार्शनिक प्रतिमानों के आधार पर करने का विरोध किया। उन्होंने मार्क्सवाद और आधुनिक समाजशास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर कामायनी की व्याख्या की और वास्तविक जीवन-ज्ञान के सन्दर्भ में कामायनी की व्याख्या की एक नई राह दिखाई।10 उन्होंने लिखा, 'कभी-कभी फैंटेसी जीवन की विस्तृत वास्तविकता के लिए, और उसको लेकर उपस्थित होती है। कामायनी में यही हुआ है। ऐसी स्थिति में फैंटेसी के रूप में जो कथा प्रस्तुत होती है, और कथा के अंतर्गत जो पात्र, चरित्र और कार्य प्रस्तुत होते हैं, वे सब प्रतीक होते हैं वास्तविक जीवन-तथ्यों के'।11

मुक्तिबोध के विचारों की ही अगली कड़ी के रूप में डॉ. नामवर सिंह ने यह दावा किया कि कामायनी के सारे प्रतीक आधुनिक जीवन से लिए गए हैं, न कि पौराणिक या मिथकीय सन्दर्भों से। मुक्तिबोध की ही तरह नामवर ने भी कहा कि प्रसाद आधुनिक समस्याओं को पहचान तो गए थे, लेकिन वे यह नहीं समझ पाए कि उनके समाधान शाश्वत नहीं हो सकते और न ही वे मानसिक जगत में खोजे जा सकते हैं क्योंकि ये समस्याएं मूलतः आधुनिक स्थितियों से उपजी हैं और इनका समाधान भी वास्तविक जगत में ही ढूँढ़ना औचित्यपूर्ण होता। प्रसाद ने छायावाद के अनुरूप रहस्यवाद का पर्दा डाल दिया है, इसीलिए कामायनी में आधुनिक जीवन साफ़ नज़र नहीं आता। प्रसाद ने सारी समस्याओं की जड़ बुद्धिवादी चिन्तन में देखी और इसलिए वैदिक युग में इस परम्परा के सूत्र तलाशे। अतः कामायनी के रूपक प्राचीन हैं, भाव शाश्वत हैं जबकि समस्याएँ आधुनिक हैं।[12]

देव सभ्यता के ध्वंस को नामवरजी ने 19वीं सदी में हिन्दू राजाओं, मुसलमान नवाबों और मुगल बादशाहों को समाप्त हो जाने का प्रतीक बताया है। प्रलय के बाद उषा का आगमन नवजागरण का प्रतीक है जो सामंतवाद की जड़ताओं को तोड़ता है। मनु को उन्होंने एक संश्लिष्ट प्रतीक माना है जो मूलतः एक आधुनिक मध्यमवर्गीय व्यक्ति है। वह नवजागरण और क्रान्ति का प्रतीक है। मनु और श्रद्धा के सम्बन्ध को विश्लेषित करते हुए नामवर कहते हैं कि मनु की चिन्ता नवजागरण के दौर में स्वर्णिम अतीत के नष्ट हो जाने के कारण अकेले हो जाने की चिंता है। श्रद्धा का आगमन उसकी आस्थापरक भावनाओं का उदय है। इसी प्रकार मनु

और श्रद्धा का द्वंद्व नवजागरण के दौर में चल रहा निराशा और आशा का द्वंद्व है। नामवरजी ने श्रद्धा को गांधीवादी अहिंसा तथा मनु को क्रांतिकारी आतंकवाद का प्रतीक बताते हुए 1930 के दशक के आसपास चल रहे भारतीय राजनीतिक परिदृश्य की व्याख्या की है।[13]

नामवरजी ने मनु द्वारा श्रद्धा को छोड़ने को गांधीवाद के प्रति मोहभंग माना है। तर्कमयी शक्ति इड़ा को साहित्यिक प्रगतिवाद का सूचक बताया है। इसी प्रकार उन्होंने सारस्वत नगर के विकास को औद्योगिक क्रान्ति और उसकी गोद से जन्मे आधुनिक लोकतंत्र का प्रतीक बताया। मनु द्वारा इड़ा पर अधिकार की कोशिश की व्याख्या लोकतंत्र के भीतर से ही उपजने वाले फासीवाद के रूप में की जा सकती है। मनु की पराजय फासीवाद की पराजय और उसका श्रद्धा की ओर लौटना पराजित मध्यवर्ग की अंध-श्रद्धा का प्रतीक है, जिसकी परिणति 'आनंद सर्ग' में अभिव्यक्त काल्पनिक एवं मानसिक समाधान के रूप में होती है। मानव अथवा कुमार लोकतान्त्रिक व्यवस्था का अग्रदूत प्रतीत होता है। उसका पालन-पोषण इड़ा करेगी क्योंकि मानवता की आधुनिक सभ्यता, श्रद्धा अथवा भावना से नहीं, तर्कबुद्धि से ही होगी।[14]

विभिन्न समाजशास्त्रीय समीक्षकों ने प्रसाद को श्रद्धा का पक्ष लेने के कारण मध्यकालीन विचारधारा का पोषक माना है। इड़ा की नारी-स्वाधीनता नामवर सिंह को भी आधुनिक परिप्रेक्ष्य के अनुकूल नजर आती है और वे प्रसाद को श्रद्धा का पक्ष लेने के कारण कठघरे में खड़ा करते हैं। लेकिन नामवरजी की कामायनी के प्रतीकों की आधुनिक व्याख्या की सबसे बड़ी सीमा यह है कि आलोचक स्वयं अपने ही काव्य-विश्लेषण की निरपेक्ष पद्धति को अतिक्रमित कर जाता है और इस काव्य के पाठ की अधिकतम करीब व्याख्या न कर, वह रचनाकार पर हावी होने लगता है। इसके अलावा नामवरजी की व्याख्या 'निर्वेद सर्ग' के बाद अधूरी और उलझी हुई लगती है।

वस्तुतः यह कामायनी की अर्थबहुलता ही है कि उसके संश्लिष्ट अर्थ पाठकों को विभिन्न अर्थों का संधान करने की संभावना प्रदान करते हैं। तभी रसवादी चिन्तक डॉ. नगेन्द्र उसकी पारम्परिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या कर पाते हैं और डॉ. नामवर सिंह उसकी नितांत आधुनिक अर्थ-योजना करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा कामायनी को देव और मानव संस्कृति की संश्लिष्ट विकास-कथा और आदिम मनुष्य के उत्तरोत्तर जटिल और संघटित होते रूप के अर्थ में देखा गया और मानव-संस्कृति को उसके संघर्षों के कारण अधिक काम्य बताया गया है।[15] मुक्तिबोध ने भी कामायनी में मानवीय संस्कृति और सभ्यता को समाजशास्त्रीय, मार्क्सवादी और आधुनिक संदर्भों में व्याख्यायित करने का यत्न किया है। कामायनी अपनी रचनात्मकता में समासोक्ति है। इसलिए प्रस्तुत के अलावा अप्रस्तुत अर्थ को लेकर चलती है और किसी भी पाठक अथवा आलोचक को इतनी विखंडनवादी स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती कि पाठ के मूल अर्थ से बहुत दूर जाकर कौड़ियाँ इकट्ठा करता फिरे।

सन्दर्भ

1. आमुख, कामायनी, जयशंकर प्रसाद, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली- 2017। **2.** कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-1962, पृष्ठ सं. 39-54। **3.** इड़ा सर्ग, कामायनी, जयशंकर प्रसाद, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली-2017। **4.** ईर्ष्या सर्ग, वही। 5. लज्जा सर्ग, वही। **6.** श्रद्धा सर्ग, वही। **7.** चिंता सर्ग, वही। **8.** कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-1962, पृष्ठ सं. 50-51। **9.** वही, पृष्ठ सं. 52-53।

10. कामायनी : एक पुनर्विचार, गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2010, पृष्ठ सं. 18-22 और 53-57।

11. वही, पृष्ठ सं. 13। **12.** 'कामायनी के प्रतीक' निबंध, इतिहास और आलोचना, नामवर सिंह, सत् साहित्य प्रकाशन, बनारस-1956, पृष्ठ सं. 154-164। **13.** वही। **14.** वही। **15.** हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2005, पृष्ठ सं. 117-119।

❏❏

एफ-272, विकास निगर आवासीय कॉलोनी,
खेतान अस्पताल के पास
लछीपुर, गोरखपुर (यूपी)-273007
मो. 9650869488

आधुनिक काल में कला-विकास की यात्रा
(जयपुर कला विद्यालय का विशेष संदर्भ)

डा. मोनिका चौधरी

कला मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है जो सदैव देश, काल एवं परिस्थितियों के प्रभावों के अनुरूप विभिन्न माध्यमों द्वारा, असंख्य स्वरूपों में आकार ग्रहण करती हुई विविध रूपाकारों में परिलक्षित होती रहती है। भारतीय कला का प्रारम्भिक रूप अत्यन्त उज्ज्वल और मध्यकाल अत्यन्त समृद्ध रहा है। अजन्ता के कलात्मक चित्रों, ऐलोरा के लयात्मक मूर्तिशिल्पों, अशोक कालीन प्रतीकात्मक स्तम्भों, गुप्तकालीन अलंकृत प्रतिमाओं से लेकर मुगल, पहाड़ी एवं राजस्थानी लघुचित्रों की परम्परा में भारतीय कला की अविरल धारा अपने स्वर्णिम रूप में प्रवाहित होती रही है। भारत पर विदेशी आक्रमणों का सिलसिला लम्बे समय तक चलता रहा और वर्षों तक विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणों और लूट-पाट को झेलते हुए, भारतीय कला एवं संस्कृति विदेशी संस्कृतियों को आत्मसात करते हुए नव समन्वयात्मक रूप में निरन्तर बहती रही। भारतीय संस्कृति में आगत संस्कृतियों के गुणों को आत्मसात करने की क्षमता के इस गुण के कारण ही अंग्रेजों से सम्पर्क का प्रभाव भारतीय जीवन तथा कला संस्कृति पर भी व्यापक रूप में पड़ा। मैं यहां जयपुर कला विद्यालय के संदर्भ से आधुनिक काल में कला-विकास की यात्रा पर परिचर्चा करना चाहती हूं।

भारत में अंग्रेजों के आगमनोपरान्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई, सन् 1818 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ राजपूत नरेशों की संधियां हो जाने के पश्चात पुनः ललित कलाओं की ओर ध्यान दिया जाने लगा। देश में अनेक स्थानों पर परम्परागत कला एवं कलाकारों के संरक्षण हेतु जागरूक वैचारिकता पनपने लगी। अंग्रेज भारत आगमन के साथ पश्चिम की कलाकृतियाँ भी अपने साथ लाते थे। साथ ही ब्रिटिश चित्रकारों का बड़ी संख्या में भारत में आगमन अठारहवीं शताब्दी के मध्य से आरम्भ हो चुका था, जब कम्पनी का व्यापार पर्याप्त उन्नत था। ये चित्रकार भारत में अपना समृद्ध बाज़ार देख रहे थे, मुगल तथा हिन्दु शासकों के दरबार में उनके चित्र अच्छे मूल्यों पर खरीदे जाते थे, अतः इस समय ब्रिटिश चित्रकारों ने भारत से खूब धन एकत्र किया। इन समस्त चित्रकारों का युग 1760 ई. से 1900 ई. तक रहा।[1] 18वीं शताब्दी में प्राचीन परम्पराओं के साथ पाश्चात्य कला संस्कृति, यथार्थवादी चित्रण पद्धति, परिप्रेक्ष्य, छाया प्रकाश तथा पश्चिमी माध्यमों का प्रयोग, पाश्चात्य तकनीकों, इत्यादि के प्रति कलाकार एवं कला संग्राहकों की रुचि एवं उत्सुकता बढ़ने लगी थी। 18वीं शताब्दी के अन्त में और 19वीं शताब्दी के आरम्भ में कोई पचास से अधिक ब्रिटिश चित्रकारों के भारत आगमन से, पाश्चात्य शैली का प्रभाव भारतीय कला में सुस्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगा था। विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण और अत्याचारों और गुलामी में जकड़े रहने के कारण भारतीय समाज में कला एवं शिल्प-स्थापत्य का प्रचलन पहले ही कम हो चुका था। अंग्रेजी शासन की चकाचौंध

एवं यूरोपीय चित्रों के अनुकरण ने उच्च वर्ग को आकृष्ट किया, जिससे अभिभूत भारतीय समाज स्वयं की परम्परागत कला-संस्कृति को उपेक्षित करने लगा। कलाकार वर्ग की दरिद्रता, परम्परागत से उदासीनता और पाश्चात्य के प्रति उत्सुकता, ऐसे बहुत से कारणों से 18वीं सदी के अन्त में ऐसे सृजनात्मक कलाकार नहीं थे, जो हमारी परम्परा की रक्षा कर सकते।[2] जो देशी कलाकार जीविकोपार्जन हेतु यत्र-तत्र बिखर रहे थे अथवा कला के अतिरिक्त अन्य आजीविका साधनों की खोज में थे उनमें कुछ कलाकार अर्थोपार्जन हेतु अंग्रेज अधिकारियों एवं अभिजात्य वर्ग की रुचि के अनुसार पश्चिम के अनुकरण पर आधारित कलाकृतियां बनाने का प्रयास कर रहे थे। परिणामस्वररूप भारतीय एवं विदेशी कलाकारों के सहयोग से कला की नवीन शैलियां विकसित होती रही। जहाँ-जहाँ यूरोपीय शैली की लहर पहुँची, वहाँ-वहाँ स्थानीय तत्वों के साथ मिलकर कला का नये रूपों में विकास हुआ। कला में ये स्थानीय तत्व आरम्भ में प्रधान रहे परन्तु बाद में ये गौण होते गये।

19वीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय कला में पाश्चात्य प्रभाव का अनगढ़ रूप दिखाई देने लगा था। 1834 में मैकाले ने भारतीय प्रजा को आंग्ल शिक्षा प्रणाली के अनुसार प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को घोषित किया था, जिसका भारत की शिक्षा प्रणाली एवं सामाजिक विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और भारतीय-जन कला, संस्कृति, सामाजिक एवं वैयक्तिक आवरण में ब्रिटिश संस्कृति का अंधानुकरण करने लगे।[3] 1857 ई. में कम्पनी के शासन के स्थान पर भारत के अधिकांश भागों पर ब्रिटेन की सीधी शासन व्यवस्था स्थापित कर दी गयी, धीरे धीरे यूरोप की शक्ति एवं प्रभुत्व बढ़ता गया। यह वह समय था जब अंग्रेजों ने भारतीय जनता पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने हेतु प्राचीन गुरुकुलों और शिक्षण संस्थाओं को पिछड़ेपन का शिकार कहा, भारतीय हस्तकला को मात्र कारीगरी कहा और निम्नकोटि का बताया, भारतीय प्राचीन चिकित्सा प्रणाली को दकियानूसी और असुरक्षित कहकर अपनी सभ्यता, विचार और तकनीकों का प्रचार एवं प्रसार किया। इसके पीछे विश्वपटल पर स्वयं को उचित प्रमाणित करना एवं ब्रितानी संस्कृति का प्रचार करना अंग्रेजी साम्राज्य का मुख्य ध्येय था। भारत में जो ब्रिटिश अधिकारी आए उनका प्रयत्न भारतीय संस्कृति को निम्न बताने तथा पश्चिमी संस्कृति के भारत में विस्तार का रहा।[4]

भारतीय कला की अस्मिता के संकट के इस दौर में, इन सबके मध्य, वैचारिक क्रान्ति की एक पृथक विचारधारा भी समान रूप से प्रस्फुटित हो रही थी। यहाँ आने वाले कई विदेशी भारत की संस्कृति और कला से चमत्कृत थे। 1819 में अजन्ता की चित्रित गुफाओं की खोज एवं अनेक विद्वानों के यात्रा विवरणों के पश्चात ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अजन्ता के चित्रों के प्रलेखन (Documentation) के लिये केप्टन राबर्ट गिल को 1844 में नियुक्त किया।[5] इस सबसे एक नयी लहर बह चली जिसमें पाश्चात्य विद्वानों के नेतृत्व में भारतीय संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। भारतीय संस्कृति के प्रति पुनः लगाव तथा सामाजिक व्यवस्था में तीव्र परिवर्तन से नवजागरण का प्रयास होने लगा। राजा राममोहनराय ने 'ब्रह्म समाज' के माध्यम से उपनिषदों में व्यक्त भारतीय विचारों की स्थापना की तथा रूढ़िग्रस्त समाज को अंधेरे से प्रकाश में लाने का भगीरथ प्रयास किया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, मधुसूदन दत्त, केशवचन्द्र सेन एवं बंकिमचन्द्र चटर्जी आदि ने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भारतीय परम्पराओं की पुनः स्थापना का प्रयास किया। एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, इंडियन एसोसिएशन (1876), नेशनल कांफ्रेंस (1883) आदि संस्थाओं की स्थापना की गई जिनके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में नवीन चेतना का संचार हुआ। इन संस्थाओं में केवल भारतीय ही नहीं, अपितु कुछ उदारवादी अंग्रेज विद्वान भी थे, जिन्होंने भारतीय दर्शन, इतिहास, संस्कृति तथा पुरा-सम्पदा का अध्ययन किया था तथा जिनकी रुचि भारत की वास्तविक पहचान को प्रकाशित करने की थी। मैक्समूलर, विलियम जोन्स, इरविन आदि विद्वानों ने प्राचीन भारतीय साहित्य के महत्व को समझते हुए उसे अपनी भाषा में अनुवादित किया। कनिंघम ने भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व के

लिए अविस्मरणीय खोज एवं कार्य किये।[6]

कला विद्यालय स्थापना– उक्त पृष्ठभूमि में कुछ जागरूक भारतीय समृद्धजनों व शासकों ने अपने-अपने क्षेत्रों में स्थानीय कलाकारों एवं कारीगरों के संरक्षण के निमित्त प्रशिक्षण की व्यवस्था की। उनका उद्देश्य स्थानीय हस्तकौशल को जीवित रखना तथा कलाकारों को नये अवसर हेतु तैयार करना था। कलकत्ता, मद्रास एवं जयपुर में इसी प्रकार की शिल्प एवं हस्तकौशल की कार्यशालाएँ कलाकारों के लिये चलायी जाने लगी। लगभग इसी समय बाम्बे टाइम्स के संस्थापक डा. जॉर्ज बुईस्ट[7] ने भारतीय कला-शिल्पों की शिक्षा देने के लिये स्कूल ऑफ इन्डस्ट्रीज की स्थापना की जिससे 1850 में कला विद्यालयों की स्थापना का विचार साकार हो सका। अंग्रेज विद्वान और कलाकार भारतीय कला से अभिभूत एवं भारतीय संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित थे किन्तु अंग्रेज शासकों ने भारतीय कला को समुन्नत करने के स्थान पर पाश्चात्य कला को भारत में पोषित करना ही उचित समझा। 19वीं शताब्दी के मध्य में भारतीय विद्यार्थियों को कला में प्रशिक्षित करने के विचार से मद्रास (1850), कलकत्ता (1854), बम्बई (1857) और लाहौर (1857) में कला विद्यालयों की स्थापना की गयी। ये विद्यालय 1854 में इन्डस्ट्रियल आर्ट सोसायटी नामक संस्था के भारतीय तथा ब्रिटिश सदस्यों के संयुक्त प्रयासों से, गैर सरकारी उद्यम के रूप में शुरू हुए। ये संस्थान, स्थानीय कला एवं कलाकारों को संरक्षण देने हेतु वहाँ के गणमान्य-जनों द्वारा प्रारम्भ किये गये और प्रशिक्षण केन्द्रों का परिष्कृत रूप कहे गये। आनन्द कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक 'कला और स्वदेशी' के 'कला-विद्यालयों के कार्य' शीर्षक अध्याय में लिखा है, 'भारत में कला विद्यालयों का सच्चा कार्य यूरोपीयन तरीकों और आदर्शों का समावेश और प्रचार करना नहीं है, यद्यपी भारतीय परम्परा के टूटे हुए सम्पर्क सूत्रों को पुनः बटोरना और उन्हें शक्तिशाली बनाना है। उन्हें राष्ट्रीय संस्कृति के एक अभिन्न अंग के रूप में भारतीय कला के विचार को मूर्त करना है और भारतीय शिल्पियों को भारतीय जनता के जीवन और चिन्तन के अनुरूप ढालना है।' इन संस्थानों की सुचारु व्यवस्था हेतु अंग्रेज़ अधिकारियों को निदेशक के रूप में नियुक्त किया गया था। बाद में संचालन व्यवस्था हेतु ये संस्थान प्रांतीय ब्रिटिश सरकारों के आधिपत्य में प्रदान कर दिये गये। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक लगभग इन सभी कला संस्थानों का संचालन भारत में, बाहर से आये अंग्रेज अफसरों के हाथों में था। इन विद्यालयों में 'ब्रिटिश रॉयल एकेडमी ऑफ लन्दन' की कला शैली का अनुसरण किया गया जिसमें परिप्रेक्ष्य, छाया-प्रकाश तथा मानव-शरीर संरचना के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता था। भारतीय पारम्परिक ज्ञान अथवा शिक्षा की अपेक्षा पाश्चात्य शिक्षा का प्रचलन बढ़ने लगा। यहाँ प्रदान की जाने वाली कला शिक्षा, यूरोपीय शैली एवं पद्धति की ओर आकर्षित करती थी जिसमें कलाकार तत्कालीन कला-आदर्शों एवं चित्रभाषा का अध्ययन करते थे। सर्वप्रथम, ग्रीक मूर्तियों से एवं बाद में मॉडल (जीवित व्यक्ति) को सामने बिठाकर, हूबहू चित्रण करने का अभ्यास मुख्य शिक्षण पद्धति थी।[8] अन्ततोगत्वा, अंग्रेजों ने इन स्थानों पर चल रही हस्तकलाओं के प्रशिक्षणों को बन्द करवाकर वहाँ केवल नैसर्गिकतावादी अथवा यथार्थवादी मॉडल पद्धति के अंकन या ड्राइंग के प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार स्थानीय कला एवं कलाकारों के संरक्षण हेतु प्रारम्भ किये गये ये संस्थान, अपने मूल रूप स्थानीय हस्तकौशल को भुलाकर, योरोपीय कला पर आधारित शिक्षण केन्द्र के रूप में परिणित हो गये। ब्रिटिश सरकार ने अपनी आवश्यकतानुसार इनका स्वरूप निर्धारण कर दिया, जिस कारण ये कला विद्यालय अपनी संस्थापना के मूल लक्ष्यों की पूर्ति में असफल सिद्ध हुए।[9] मुख्य उद्देश्य के विपरीत शिक्षा, वातावरण, सामग्री पद्धति, इत्यादि में ब्रिटिश कला विद्यालयों की अनुकृति मात्र रह गये एवं पाश्चात्य कला शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु ब्रिटिश सरकार के मुख्य केंद्र बन गये। सम्भवतया इनकी पृष्ठभूमि में मूल प्रायोजन भारतीय कला एवं कलाकारों को संरक्षण देना अथवा पाश्चात्य कला में भारतीयों को पारंगत करना नहीं था अपितु इन कला विद्यालयों के द्वारा ब्रिटिश सरकार का वास्तविक उद्देश्य भारतीय कला परम्पराओं को तोड़ देना मात्र था।[10] यद्यपि भारत के

आधुनिक कला-इतिहास की दिशा स्थापित करने में इन कला महाविद्यालयों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। तत्कालीन कला विद्यालयों ने वस्तुतः देश के प्रमुख शहरों में कलाकारों तथा प्रबुद्ध वर्ग को एक धरातल तथा स्थान पर एकत्रित किया तथा एक ऐसा ताना-बाना बुना जिससे कला-शिक्षा का नया स्वरूप निर्धारित हो गया। तत्कालीन उच्च वर्ग के कुछ विद्यार्थियों ने इन विद्यालयों में प्रवेश लेकर नवीन अकादमिक तकनीक को पूर्ण जिज्ञासा एवं मनोयोग से सीखने का प्रयास किया, क्योंकि वे इस समय तक भारतीय तथा यूरोपीय दोनों ही कला पद्धतियों से अपरिचित थे और वे इस समय की दिशाहीन कला के लिये एक नवीन पक्ष की खोज में थे। परिणामतः इन कला विद्यालयों ने धीरे धीरे जन रुचि को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया।

कला विद्यालय की विकास यात्रा— 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो में भारत राजनैतिक ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी पूर्णतः पराधीन हो चुका था। भारतीय आधुनिक कलाकार अपनी जड़ों को छोड़कर यूरोपीय दिशाओं की ओर उन्मुख हो रहे थे। अस्मिता पर संकट के इस दौर में कुछ कलाकारों तथा कला समीक्षकों ने अपने ढंग से कला आन्दोलन को एक नयी दिशा देने तथा पारम्परिक मूल्यों के प्रति विश्वास जगाने का प्रयास किया जिनमें ई.वी. हैवेल, अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, आनन्द कुमार स्वामी, इत्यादी कुछ प्रमुख नाम हैं। ई.वी. हैवेल[11] ने भारतीय कला की विशेषताओं की ओर कला प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया। दक्षिण भारत के परम्परागत शिल्प के वैभव का उन्होंने स्वयं अनुभव किया था। उन्होंने गुप्त कला, अजन्ता, ऐलोरा के अपूर्व वैभव, मुगल, राजपूत चित्रशैलियों तथा मूर्तिकला की सूक्ष्मताओं को पहचान कर भारतीय कला के मौलिक तत्त्वों को उजागर किया। हैवेल के अनुसार– 'इन विद्यालयों में आकार-कल्पना पर ध्यान नहीं दिया जाता, जो समस्त कला की नींव है; वरन यहाँ ब्रिटेन के प्रादेशिक विद्यालयों की चालीस वर्ष पुरानी निकृष्ट परम्परा अपनाई जा रही है, और पूर्वी कला की उपेक्षा करके भारतीय विद्यार्थियों को दिगभ्रमित किया जा रहा है।'[12] 1907 ई. में 'दि इंडियन सोसायटी ऑफ ओरियंटल आर्ट' ने भारतीय कला तथा कलाकारों को बढ़ावा देने में अत्याधिक रुचि ली। कला समीक्षक डॉ. मुल्कराज आनन्द का मत है कि हैवेल ने ब्रिटिश कला पद्धति को हटाकर जो भारतीय पारम्परिक कथानकों एवं शैली के आधार पर कला-शिक्षण आरम्भ करवाये, वे भारतीयों को कला-माध्यम से प्रेरित करने में कुछ सफल भी हुये। पर्सी ब्राउन और डॉ. आनन्द कुमार स्वामी ने भी भारतीय कला के आदर्श गुणों के प्रचार-प्रसार में पूर्ण सहयोग दिया।

आचार्य अवनीन्द्र नाथ ठाकुर भारतीय चित्रकला के पुनरुत्थान के अग्रणी रहे। उन्होंने पाश्चात्य एवं पोर्वात्य कलारूपों में अन्तर्विरोध के मध्य भारतीय कला का नेतृत्व किया। इन्होंने पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त भारतीय कला के स्रोत अजन्ता, एलोरा, राजपूत शैली का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया। जापानी चित्रकारी के प्रभाव से नई पद्धति 'वाश' को जन्म दिया। देश की कलात्मक गतिविधियों में नवीन चेतना भर दी। उनके शिष्य देश के विभिन्न भागों में कला-प्रचार करने लगे। नन्दलाल बोस शान्ति निकेतन में, असितकुमार हलदार व क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार लखनऊ एवं लाहौर में, के. वेंकटप्पा मैसूर में, शैलेन्द्रनाथ डे जयपुर में, शारदाचरण वकील दिल्ली में, देवी प्रसाद राय चौधरी चेन्नई में तथा नागहट्ट श्रीलंका में नवीन कला धारा के प्रचार में लग गये। आधुनिक भारतीय कला आन्दोलन का प्रथम चरण यहीं से प्रारम्भ होता है जो 'बंगाल स्कूल' के नाम से देशव्यापी स्तर पर विख्यात हुआ।

राजस्थान में कला विद्यालय की स्थापना एवं इतिहास कला के उक्त परिवर्तनों से अछूता नहीं था। 19वीं शताब्दी के अन्त का समय राजस्थान के इतिहास का वह समय रहा जब यहाँ की स्थानीय कला को प्रोत्साहित किया गया, नव-स्थापत्य का विकास हुआ एवं संग्रहालयों की स्थापना हुई। यह समय राज्य के शिल्पकारों, कला व्यवस्थापकों, आश्रयदाताओं, उत्साहशील विदेशियों, स्थानीय विद्वज्जनों एवं राज्य के कर्मठ कर्मचारियों के अभूतपूर्व सहयोग और सामूहिक प्रयासों को चिह्नित करता है, जिससे राजस्थान की कला का समुचित प्रसार व्यापक रूप से विश्व के समक्ष हुआ। महाराजा सवाई जगतसिंह के राजकाल में यूरोपीय लैण्डस्केप, आकृतियों तथा वर्ण-विधान ने राजपूती

कला की पुष्ट परम्परा को आन्दोलित कर दिया था, जिससे अनेक चित्रकार विदेशी प्रभाव में खो गये थे। महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय तथा महाराजा सवाई रामसिंह के राजकाल में राजस्थान के दरबारी चित्रकार पाश्चात्य शैली में चित्रण करने लगे थे यहाँ की कला में राजस्थानी तथा जिससे यूरोपीय कला तत्वों का समायोजन हो गया था। फलस्वरूप विभिन्न कला प्रवृत्तियों, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, कला शिक्षा एवं प्रशिक्षण तथा वैश्विक परिवर्तन के दौर से राजस्थान में आधुनिक कला का विस्तार हुआ। राजस्थान के जयपुर स्थित कला विद्यालय की कहानी भी इतिहास के इन्हीं तथ्यों को उजागर करती है। इस विद्यालय का इतिहास जयपुर के महाराजा रामसिंह द्वितीय के शासनकाल (1835-1880 ई.) से प्रारम्भ होता है।

महाराजा रामसिंह द्वितीय ने जयपुर में एक ऐसा कला विद्यालय खोलने की योजना बनाई जिसमें कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में खोले गये कला विद्यालयों के समान केवल पाश्चात्य अभ्यास पर आधारित ड्राइंग-रेखांकन को ही महत्व न देकर स्थानीय औद्योगिक कलाओं एवं हस्तकौशल की योग्यता भी आधुनिक पीढ़ी को सिखाई जाये और परम्परागत कला एवं कलाकारों को भी संरक्षण एवं प्रोत्साहन मिले।[13] इस योजना के क्रियान्वयन हेतु महाराजा ने 1857 ई. में जयपुर में 'हुनरी मदरसा'[14] अथवा 'मदरसा ए हुनरी' नाम से सिटी पैलेस के बादल महल की दुछत्ती पर कला का प्रशिक्षण प्रारम्भ कर कला विद्यालय स्थापित किया। इस कला विद्यालय की स्थापना हुई तो चित्र, शिल्प और कारूशिल्प की अभिनव प्रणालियाँ सामने आई।[15] इसका प्रमुख ध्येय था– स्थानीय हस्तकौशल को जीवित रखना, स्थानीय कलाकारों को भविष्य में औद्योगीकीकरण की चुनौतियों का सामना करने हेतु तैयार करना तथा साथ ही उन्हें जीविकोपार्जन के आधुनिक सुअवसर प्रदान करना।[16] आरम्भ में इस विद्यालय में पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे कारीगर परिवारों के बच्चों को कला एवं शिल्प की शिक्षा हेतु प्रोत्साहित किया गया था। इस कला विद्यालय में कलाकार कोफ्तगिरी, ज़रदोजी, जड़ाई, पॉटरी, कशीदाकारी, क्ले मॉडलिंग के ऐसे नमूने तैयार कर रहे थे जो उपयोग से अधिक संग्रहालयों में संग्रहीत करने हेतु व समृद्ध जनों एवं राजपूत सामंतों के अतिरिक्त यहाँ आने वाले पर्यटकों को भी आकर्षित कर रहे थे। लगभग इसी समय कला विद्यालय से एक कैटलॉग प्रकाशित करवाया गया जिसमें यहाँ के उत्पादों के सीमा-रेखांकनों के साथ उनके आकार एवं मूल्य की सूची भी शामिल थी। यहाँ फिर बनने वाले सामान और निरंतर बढ़ती हुई शिल्पियों की संख्या को देखते हुए इनके लिये उपयुक्त विक्रय स्थान बनाने के लिए सवाई रामसिंह द्वितीय ने किशनपोल बाज़ार के मोदीखाना में पं. शिवदीन की हवेली को चुना।[18] अंततः पं. शिवदीन की हवेली में सन् 1866 में जब कला विद्यालय स्थानांतरित हुआ तो 'मदरसा ए हुनरी' को 'महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट' नाम दिया गया।[19]

महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट में खानदानी कलाकारों व उनके पुत्रों के साथ अन्य लोगों के लिये भी परम्परागत कला पाठ्यक्रमों को विधिवत प्रारम्भ किया गया। हवेली के निचले कक्षों में प्रशिक्षण हेतु विद्यार्थियों के बैठने की व्यवस्था थी एवं ऊपरी कक्षों में विद्यार्थियों द्वारा निर्मित कलाकृतियों के प्रदर्शन की व्यवस्था की गई थीं। इससे यहाँ आने वाले पर्यटक, कलाकारों को कार्य करते हुए देखते एवं उनके द्वारा तैयार सामान देखकर आनन्द ले खरीद भी सकते थे। अगस्त 1881 में महाराजा माधोसिंह द्वितीय के राज्यकाल (1880-1922) में एक छोटा संग्रहालय इन औद्योगिक कलाओं के लिये खोला गया। संग्रहालय में पर्यटकों की बढ़ती संख्या को देखते हुए महाराजा सवाई माधोसिंह द्वितीय की अनुमति एवं सहयोग से सजावटी एवं औद्योगिक कला (Decorative and Industrial Arts) की एक प्रदर्शनी 1883 में लगाई गई। इसके लिये महल का सबसे बाहरी जलेब चौक तैयार किया गया जो स्विन्टन जैकब[20] द्वारा डिजाइन किया गया था। इस 'जयपुर एक्जिबिशन' के क्यूरेटेर थॉमस एच. हैण्डले (Thomas H. Hendley)[21] ने जयपुर में निर्मित वस्तुओं को प्राचीन मिस्र के उत्कृष्ट कला नमूनों के समकक्ष माना था। और 1883 में आयोजित यह इन्डस्ट्रियल आर्ट एक्ज़िबिशन भारतीय स्तर पर इस तरह का प्रथम प्रयास था। इसके पूर्व 1851 में इस तरह की

प्रदर्शनी लगायी जा चुकी थी पर उसका आयोजन अखिल भारतीय स्तर पर नहीं किया गया था। 1886 में लगने वाली अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी इसी का अगला चरण था।[22] प्रदर्शित सभी कृतियों के छायाचित्र कारपोरल स्ट्राउड द्वारा खींचे गये थे, जिसका एक सचित्र कैटेलॉग (Catalogue) भी विवरण के साथ प्रकाशित किया गया था और 1890-1913 में प्रदर्शनी की वस्तुओं की ड्राईंग्स के साथ 'जयपुर पोर्टफोलियो' प्रकाशित करवाया गया था। जिसमें प्रशिक्षक रामबक्श और उनके कला विद्यालय के विद्यार्थियों ने इसके रेखांकन बनाये थे।

1883 की प्रदर्शनी में कुल सात हज़ार वस्तुओं को प्रदर्शित किया गया था। प्रतियोगियों को स्वर्ण, रजत, कांस्य पदक भी प्रदान किये गये थे। इस समय और इसके पश्चात की समय-समय पर आयोजित प्रदर्शनियों में विद्यालय को मिले पदकों की एक सूची वर्तमान संस्था में आज भी सुरक्षित है।[23] यहाँ लकड़ी का कार्य (बढ़ईगिरी), लकड़ी के आभूषणों पर उत्कीर्णन, पत्थर पर नक्काशी (मुख्यतः धार्मिक एवं सजावटी स्वरूप), धातु पर कार्य या उत्कीर्णन के विभिन्न रूप (मेटल वर्क), लुहारगिरी, कोफ्तगिरी (स्टील पर सुवर्ण की जड़ाई का कार्य), चांदी के महीन तार या लेस का काम, बनत का कार्य, ज़रदोज़ी, क्ले मॉडलिंग, पॉटरी, कशीदाकारी, घड़ीसाज का काम एवं लघु-चित्रकला इत्यादि प्रमुख पाठ्यक्रम रखे गये थे।[24] आरम्भिक रूप में कुछ वर्षों तक इस कला विद्यालय में परम्परागत हस्तकौशल के प्रशिक्षण ही दिये जाते थे, किन्तु बदलते परिदृश्य में यहाँ यथार्थवादी मॉडल पद्धति की ड्राइंग के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी प्रारम्भ कर दी गई। कुछ ही समय में यथार्थवादी मॉडल पद्धति की कला-शिक्षा परम्परागत शिक्षा से अधिक महत्वपूर्ण समझी जाने लगी और भारतीयों ने उस पाश्चात्य कला प्रभाव को भी आत्मसात कर लिया। कुछ प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों ने इससे स्वयं की विशिष्ट शैली विकसित कर ली और कुछ केवल अनुकृति में ही दक्षता प्राप्त कर सके।[25] विद्यालय में 1938 तक चल रहे शिल्प-कौशल के कई कार्यक्रम बन्द कर दिये गये, और लगभग इसके कुछ ही समय पश्चात यूनाइटेड किंगडम लन्दन में गवर्नमेन्ट स्कूल ऑफ डिज़ाईन जो बाद में रॉयल कॉलेज ऑफ आर्ट कहलाया, स्थापित किया गया था, जिसमें भारतीय हस्तकला कौशल को आधार बनाकर प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये गये जिससे भारतीय कला एवं कौशल को वहां के विद्यार्थियों को सिखाया जा सके।[26]

यथार्थवादी मॉडल पद्धति से प्रभावित होने के कारण भारतीय हस्तकला के अस्तित्व को अत्यधिक आघात पहुँचा। कालान्तर में जब 'बंगाल आन्दोलन' का प्रारम्भ हुआ तो उसका प्रभाव भी यहाँ आया।[27] सन् 1922 में नाम महाराजा स्कूल ऑफ आर्टस् रख दिया गया था।[28] सन् 1945 का वर्ष इस संस्था का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। जयपुर राज्य के तत्कालीन दीवान मिर्जा इस्माइल ने इसे अपने संरक्षण में चरम शिखर पर पहुंचा दिया था। इस समय कला एवं शिल्प के लगभग 22 विभिन्न पाठ्यक्रम यहाँ चला करते थे। इसके अतिरिक्त चित्रकला अध्यापकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था थी। संस्था में 400 विद्यार्थी अध्ययनरत थे और लगभग 40 अध्यापक एवं अनुदेशक कार्यरत थे।[29] सन् 1949-1950 में जयपुर रियासत के राजस्थान राज्य में विलीनीकरण के पश्चात इस संस्था को दो भागों में विभक्त कर दिया गया। परन्तु मूर्तिकला एवं क्ले मॉडलिंग विभाग लुहारखाना में चलते रहे। बाद में शिल्पकला विभाग को पृथक कर आलू फैक्ट्री के भवन में और ललित कला विभाग चौड़ा रास्ता स्थित बांके बिहारी जी मंदिर में स्थानान्तरित कर दिया गया। इसके प्राचीन भवन को उद्योग विभाग को सौंप दिया गया। सन् 1958 में विद्यार्थियों के आग्रह पर ललित कला विभाग को पुनः स्थानान्तरित कर चांदपोल बाज़ार स्थित कलामंदिर में मिला दिया, जहां कन्या कला-शिक्षा का केन्द्र था और कलामंदिर एवं महाराजा स्कूल ऑफ आर्टस् का सम्मिलित नाम राजस्थान स्कूल ऑफ आर्टस् रख दिया गया।[30] सन् 1960 में विद्यार्थियों के पुनः अनुरोध पर कला विद्यालय को उसके प्राचीन भवन में दूसरी मंज़िल के दो कमरों में स्थानान्तरित कर दिया गया। शेष कमरों में संगीत कक्षाएं एवं उद्योग विभाग यथावत् चलते रहे। यह राजस्थान प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा निदेशालय के अधीन हो गया।[31] 1965 में अध्यापकों के पूर्णकालिक

पद स्वीकृत किये गये और आर्थिक सहायता भी दी गई। इस समय विद्यालय में रंजनकला, मूर्तिकला एवं क्ले मॉडलिंग में पंचवर्षीय पाठ्यक्रम एवं कुछ अभिरुचि-कक्षाएं चल रही थीं।

कला विद्यालय के पुस्तकालय में पाठ्यक्रम सूची की एक प्राचीन प्रति जर्जर अवस्था में संरक्षित है,[32] जिसमें ड्राइंग एण्ड पेंटिंग, मॉडलिंग एण्ड स्कल्पचर तथा एप्लाईड आर्ट में डिप्लोमा कोर्स की तत्कालीन जानकारी उपलब्ध है। साथ ही विद्यालय का इतिहास एवं महत्वपूर्ण बिन्दु प्रथम पृष्ठ पर दिये हैं जिनके अनुसार- यह एक राजकीय संस्थान है जो 1960 में प्रस्तुत हुआ। महाराजा स्कूल ऑफ आर्टस एण्ड क्राफ्ट्स, जयपुर महाराजाधिराज सवाई रामसिंह द्वारा 1866 में स्थापित विद्यालय का क्रमोन्नत रूप था। इस विद्यालय का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिये ऐसे पाठ्यक्रम प्रस्तुत करना है, जिससे उनके जन्मजात गुणों एवं क्षमताओं का विकास हो सके और वे आत्मनिर्भर बन सकें।

1981 में कला विद्यालय में स्नातक स्तर की कक्षाएं प्रारम्भ की गईं जिसकी डिग्री राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा सम्बद्ध की गई। इस समय यहाँ पहले से कार्यरत संकाय सदस्यों को यथावत रखते हुए कालेज शिक्षा विभाग के राजस्थान लोक सेवा आयोग द्वारा चयनित व्याख्याताओं को भी कला विद्यालय में पदस्थापित किया गया। 2003 में इस संस्था को राजकीय उपक्रम में स्नातक महाविद्यालय की मान्यता दी गई एवं आयुक्तालय कॉलेज शिक्षा में एक राजकीय महाविद्यालय के रूप में सम्मिलित कर लिया गया। 2013 में स्कूल ऑफ आर्टस् में स्नातकोतर स्तर की कक्षाएं प्रारम्भ की गई। 2014 में संस्थान को नवर्निमित तीन मंज़िला भवन में स्थानान्तरित कर दिया गया। स्नातकोत्तर स्तर पर इसे 2018 में राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा स्थाई सम्बद्धता प्रदान की गई।

विद्यालय के अध्यापक–विद्यालय की एक पत्रिका में उल्लेख किया गया है कि इसके प्रारम्भिक दौर में पाश्चात्य कला प्राचार्यों एवं उपाचार्यों में डॉ. सी. एस. वेलेन्टाइन, डी फाबेक, चार्ल्स ट्रेवेलियान, मिस्टर सिकमोर आदि के निर्देशन में कला विद्यालय गौरवान्वित होता रहा।[33] डॉ. सी. एस. वेलेन्टाइन (C. S. Valentine) इसके प्रथम आचार्य थे।[34] वेलेन्टाइन के साथ शिक्षकों का समूह भी मद्रास से आया था।[35] राजस्थान आने वाले ब्रिटिश अफसर जो भारतीय कला संस्कृति, भारत की परम्पराओं, त्यौहारों, पर्वों, भारतीय आस्थाओं एवं स्थापत्य कला स्वरूपों से प्रभावित थे, उनमें डी फाबेक (De-Fabec)[36] नाम का उल्लेख मिलता है। राजस्थानी कला, संस्कृति एवं इतिहास में रुचि रखने वाले सर्जन डा. डी फाबेक ने कला विद्यालय की विधिवत स्थापना से सम्बन्धित होकर बढ़-चढ़कर उत्साह दिखाया तथा 1866 में इसके प्रथम निदेशक के रूप में कार्यभार संभाला। जब विद्यालय में अध्ययनरत विद्यार्थियों की संख्या लगभग 100 तक पहुंच गई तब यहाँ बंगाल के उपेन्द्रनाथ सेन को पूर्णकालिक निदेशक नियुक्त कर दिया गया।[37] प्रारम्भिक दौर में लक्ष्मणजी यहाँ कला सिखाते थे जिन्हें डी. फाबेक ने ही प्रशिक्षित किया था। यहाँ से प्रशिक्षित उस समय के प्रमुख विद्यार्थियों में जयचन्द्रा एवं लक्ष्मणजी के अनुज रामबक्श के नाम भी उल्लेखनीय हैं। जयचन्द्रा, इन्जीनियर स्विन्टन जेकब[38] के ऑफिस में काम करने लगे। कलाकार रामबक्श उस समय के एक मुख्य वास्तुकार के रूप में जाने गये जिनके निर्देशन में 1864-1896 ई. के मध्य संस्थान के निदेशक डी. फाबेक ने वास्तु एवं स्थापत्य कला विभाग में उल्लेखनीय कार्य करवाये।[39] रामबक्श के द्वारा बनाये गये जड़ाई कार्य (Inlay work) की तलवार-ढाल, कोफ्तगिरी (Koftigiri) युक्त पॉटरी, की कलाकृतियां सिटी पैलेस संग्रहालय में आज भी सुरक्षित हैं। कला विद्यालय से जुड़े कलाकारों एवं अध्यापकों में अनेक नामों का उल्लेख यत्र तत्र बिखरे रूप में मिलता है। पानों का दरीबा में रहने वाले चित्रकार रामचन्द्र के पुत्र छाजूराम और गंगाबक्श, दोनों कुशल चित्रकार थे। गंगाबक्श कला विद्यालय में अध्यापक थे। गंगाबक्श के पुत्र लक्ष्मीनारायण ने भी कला विद्यालय में अपनी सेवाएं दी।[40] पं. शिवानन्द भी यहाँ अध्यापक थे। सन् 1923-1924 में महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय के समय में असित कुमार हाल्दार, शैलेन्द्रनाथ डे, हिरण्यमय चौधरी, कुशलकुमार मुखर्जी की नियुक्तियों से विद्यालय के शिक्षण को पुनः गति मिली। सन् 1923 में असित कुमार हाल्दार मात्र एक ही वर्ष के लिये विद्यालय आए।

इनके द्वारा जयपुर की कला में वॉश पद्धति के एक सुनहरे अध्याय का प्रवर्तन हुआ। सन् 1924 में उपाचार्य शैलेन्द्रनाथ डे बनारस से यहाँ आए। कुशलकुमार मुखर्जी कला विद्यालय में प्राचार्य पद पर अपनी सेवाएं 1948 तक देते रहे।[41] 1937 में श्री तारापद मित्रा लाहौर से जयपुर आए।[42] और सन् 1968 में सेवानिवृत्त होने के तीन वर्ष पश्चात तक यहाँ अपनी सेवाएं देते रहे।[43] सन् 1945 के समय यहीं के विद्यार्थी रामगोपाल विजयवर्गीय भी अध्यापन हेतु यहां नियुक्त किये गये जो शैलेन्द्रनाथ डे की सेवानिवृत्ति के बाद 1959 से 1966 तक यहाँ प्राचार्य रहे। सन् 1949-1979 तक लल्लू नारायण वर्मा शिल्प विभाग में कार्यरत रहे। कला विभाग में ईश्वरलाल, जगन्ननाथ, मोहनलाल, शीतलदास कार्यरत रहे। विद्यालय से जुड़े अध्यापकों में 1968 में नियुक्त कृष्णचन्द्र जोशी, आचार्य मोहन शर्मा (1968 में नियुक्त), कला प्रशिक्षिका लोरना सी. डेनियल (1969 में नियुक्त), सावित्री शर्मा (1972 में नियुक्त), महेन्द्र कुमार शर्मा 1979, राजेन्द्र कुमार शर्मा 1983, अंकित पटेल, आर. एस. रावल, बृजमोहन लाल (उप आचार्य), रसिकलाल पारीख, नरबदीलाल शर्मा, ब्रहानन्द शर्मा, वाई. के. शुक्ल, सुरेशचन्द्र राजोरिया, नरेन्द्र आमीन आदि नामों का उल्लेख मिलता है।

विद्यालय के कुछ प्रमुख यात्री –'जयपुर नामा' में वेलेन्टाइन प्रिन्सेप (Valentine Cameron Prinsep)[44] का भी उल्लेख है।[45] वेलेन्टाइन प्रिन्सेप की एक अल्पकालीन जयपुर यात्रा में उन्होंने यहां के औद्योगिक कौशल और हस्तशिल्प कला की प्रशंसा की थी, किन्तु वे यहाँ के विद्यार्थियों के रेखांकन अभ्यास के प्रति उदासीनता से विचलित थे। लगभग इसी समय डी. फाबेक ने उपेन्द्रनाथ सेन को यहाँ आमंत्रित किया था।

बनारस के निवासी श्री रामशंकर व्यास, दिल्ली से सन् 1903 की जनवरी में जयपुर दरबार में एक गवाह के रूप में आये थे, इस समय उन्होंने जयपुर नगर की यात्रा भी की थी। जयपुर में भ्रमण की अवधि में रामशंकर व्यास ने यहाँ के मुख्य स्थानों में अल्बर्ट हॉल और कला विद्यालय का भी अवलोकन किया था। 18 दिसम्बर 1902 एवं 12 अप्रेल 1903 के मध्य अपनी यात्राओं का अनुभव-वृत्तान्त उन्होंने लिखा है। यह यात्रा-वृत्तान्त 1909 में पटना से प्रकाशित हुआ था। व्यास जी ने यात्रा वृत्तान्त में उल्लेख किया है कि 1882 में सवाई रामसिंह के समय में कला विद्यालय की उन्नति की तुलना में इस समय जयपुर की कला की उत्तरोत्तर प्रगति को देखा जा सकता है। आगे प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है कि यहाँ कई राज्यों के, भिन्न- भिन्न स्थानों से, विविध किस्मों के नमूने प्रदर्शन कक्ष में हैं, जिनका प्रदर्शन भी अत्यन्त आकर्षक है। कला विद्यालय के विभागों का वर्णन करते हुए व्यास जी ने लिखा है कि यहाँ प्राचार्य एवं अनेक क्लर्क बंगाली हैं एवं सभी मित्रवत वातावरण वाले मृदुभाषी एवं विनम्र हैं। कुम्हारी, खरादी (अलाईगिरी-Turnery), नक्काशी, उत्कीर्णन, जड़िया का काम करने वाले, सुनारी, चित्रकारी, लुहारी आदि कई विभाग हैं। श्री रामशंकर व्यास के साथ, उनके यहाँ एक कर्मचारी की रिश्तेदार एक वरिष्ठ महिला बीबी धन्ना देवी भी यहाँ पधारी थी, जिन्होंने यहाँ से थाल, कागज़, खिलौने इत्यादि की खरीददारी भी की।[46]

अपने इतिहास से लेकर वर्तमान तक ललितकला के इस शिक्षण संस्थान की उत्थान और पतन की यात्रा, कभी कुछ व्यक्तियों की संस्था प्रधान बनने की लालसाओं के चलते, तो कभी राजनैतिक उपेक्षाओं के कारण, बाधित होती अनवरत चलती आ रही है।

संदर्भ–

1. अग्रवाल, गिर्राज किशोर, आधुनिक भारतीय चित्रकला, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़, 1985, पृ. 11। **2**.मुहम्मद असगर अली कादरी, चित्रकला का इतिहास, राजकमल एण्ड सन्स, आगरा, 1970, पृ. 129। **3**. साखलकर, रत्नाकर विनायक, आधुनिक चित्रकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1985, पृ. 340 (Partha Mitter, Art and Nationalism in Colonial India, 1850-1922, Occidental Orientations, Cambridge University Press,1994)। **4**. अग्रवाल, गिर्राज किशोर, आधुनिक भारतीय चित्रकला, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़, 1985, पृ. 71। **5**. सर्वप्रथम विलियम एस्किन ने 'बाम्बे लिटररी आर्ट सोसायटी' को इससे अवगत कराया, समय समय पर अन्य विद्वानों के बाद लेफटिनेन्ट जेम्स ई ऐलेक्जेनडर ने रायल एशियाटिक सोसायटी को 1824 में इसका विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया था। 1838 में फर्ग्युसन ने निरीक्षण किया और 1843 में रायल एशियाटिक सोसायटी में रॉक कट टेम्पल्स आफ इंडिया नामक लेख पढ़ा। द्रष्टव्य अग्रवाल, गिर्राज किशोर, कला और कलम, अशोक प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1986, पृ. 60। **6**. गोस्वामी, प्रेमचन्द्र, आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ. 2। **7**. George Buist (1805-1860) was a Scottish journalist and Scientist. He was the Editor of the 'Bombay Times and Journal

of Commerce'. In 1850 he founded the Bombay Reformatory School of Industry for the reformation and education of Indian children. (http:// en.m.wikipedia. org)। **8.** साखलकर, पूर्वोक्त 340-341। **9.** प्राणनाथ मागो, भारत की समकालीन कला-एक परिप्रेक्ष्य, अनुवाद सोमित्र मोहन, नैशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 2006, पृ. 19-22। **10.** अग्रवाल, गिर्राज किशोर, आधुनिक भारतीय चित्रकला, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़, 1985, पृ. 72। **11.** ई.वी. हैवल सन 1884 ई. से 1892 ई. तक 'मद्रास कला विद्यालय' के प्राचार्य एवं 1896 ई. में कलकत्ता कला विद्यालय में प्राचार्य पद पर रहे। प्रताप, रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 200, पृ. 315। **12.** अग्रवाल, गिर्राज किशोर, आधुनिक भारतीय चित्रकला, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़, 1985, पृ. 21। **13.** Giles Tillotson, Jaipur Nama : Tales from the Pink City –Penguin Books India, 2006, .p. 139 (जाइल्स टीलोटसन रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी के अध्येता एवं पूर्व निदेशक– Fellow & Former Director रहे हैं।)। **14.** मदरसा एक अरबी शब्द है जिसका अर्थ है विद्यालय। **15.** शचीरानी गुर्टू, कला के प्रणेता, इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली/बम्बई, 1969, पृष्ठ 515 (शचीरानी गुर्टू ने स्थापना के वर्ष का उल्लेख वर्ष 1960 अंकित किया है जो त्रुटिपूर्ण है। **16.** Giles Tillotson, Jaipur Nama : Tales from the Pink City –Penguin Books India, 2006, .द्र. 139। **17.** यहाँ के उत्पादों में घरेलू आवश्यकता की वस्तुएं, पॉटरी, धातु का कार्य, जड़ाई, कोफ्तगिरी, स्वर्ण की जड़ाई की तलवारें, ढालें आदि शस्त्र थे। **18.** पं. शिवदीन राजा रामसिंह द्वितीय के मंत्री थे। आप तत्कालीन समय में आगरा के राजकीय महाविद्यालय से अंग्रेजी की परीक्षा उत्तीर्ण किये हुए थे। पं. शिवदीन महाराजा कॉलेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे और वर्षों तक महाराजा रामसिंह द्वितीय के विशेष सलाहकार के रूप में पदस्थापित रहे। **19.** विवरणिका : राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर, 2008-2009, पृ. 2। **20.** सैमुअल स्विन्टन जैकब (Sir Samuel Swinton Jacob) ब्रिटिश सेना में एक इंजीनियर थे जो 1867 में जयपुर राज्य के चीफ इंजिनियर नियुक्त हुए थे। **21.** थॉमस हालक्नि हैण्डले (Thomas Holbein Hendley 1847-1917) एक ब्रिटिश मेडिकल ऑफिसर थे, जो 1873 से 1897 तक जयपुर में भारतीय चिकित्सा सेवा में ब्रिटिश राज में नियुक्त हुए थे और भारतीय कला में रुचि रखते थे। **22.** Giles Tillotson, 'The Jaipur Exhibition of 1883", journal of the Royal Asiatic Society, 14 (02) : United Kingdom, London, July 2004, pp.111-126। **23.** स्कूल ऑफ आर्ट के स्टोर-घर में एक सूचीपत्र है जिसमें समय-समय पर आयोजित प्रदर्शनियों में स्कूल ऑफ आर्ट को मिले पदकों का विवरण अंकित है। **24.** Giles Tillotson, op.cit] p. 139-140। **25.** साखलकर, पूर्वोक्त पृ. 342। **26.** मोहित शर्मा, हमने जिस हुनर को मिटाया, विदेशों ने आंखों पर बिठाया, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, मई 6, 2018। **27.** सुमहेन्द्र, पूर्वोक्त पृ. 69। **28.** रूपनारायण वर्मा, 'हमारा कला शिक्षालय', संरचना, (कालेज़ पत्रिका), राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर, 1969 पृ. 22। **29.** रूपनारायण वर्मा, पूर्वोक्त पृ. 22। **30.** रूपनारायण वर्मा पूर्वोक्त पृ. 23। **31.** चित्रा, पूर्वोक्त पृ. 8-9। **32.** Departmental Examinations Arts & Sculpture Syllabus 1977", Published by Registrar, Department of Primary & Secondary Education, Bikaner, 1977 (स्कूल ऑफ आर्टस् के पुस्तकालय में संख्यक 597 पर संग्रहीत)। **33.** चित्रा त्रैमासिक, कालेज़ पत्रिका, राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर, जुलाई-सितम्बर 2005, अंक-1, पृष्ठ-8-9। **34.** चिकित्सा सेवा के अंग्रेज़ अधिकारी रहे डा. सी. एस. वेलेन्टाइन ने मद्रास कला विद्यालय से कुछ अध्यापकों को जयपुर लाकर कला शिक्षा को व्यवस्थित रूप दिया। गिर्राज किशोर अग्रवाल, आधुनिक भारतीय चित्रकला, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़ 1995, पृ.26। राम पाण्डे, 'राजस्थान के भिति चित्र- एक सफरनामा', राजस्थान के भिति चित्र सम्पादक, राम पाण्डे, पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर एवं शोधक, जयपुर 2005, पृ.13। आर.बी.गौतम (सम्पादक) राजस्थान की समसामयिक कला, 1989 ई. पृ.17। सुमहेन्द्र (सम्पादक), जयपुर कला और कलाकार, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर, 1978, पृ. 69। अखिलेश निगम (सम्पादक) समकालीन कला, नवम्बर 1987-मई 1988, अंक 9-10, पृ. 10)। **35.** सुमहेन्द्र (सम्पादक) 'राजस्थान की आधुनिक कला यात्रा', आकृति-80, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर, मार्च 1982, पृ. 69। **36.** डा. पिंकरटन (Dr. Pinkerton) और डी फाबेक (De-Fabec) नाम के दो ब्रिटिश सर्जन के नाम 1890-91 की कुष्ठरोग पर रिपोर्ट में मिलते हैं। (Leprosy Report of Leprosy Commission India 1890&91, printed by the superintendent of government printing Press Calcutta, india , Govt of India central printing office, hastings street, Calcutta (The Researcher XIT-XTII- 1972-73, pp. 63-70)। **37.** डा. उपेन्द्रनाथ सेन ने असिस्टेन्ट सर्जन के रूप में, कलकत्ता में, कुष्ठरोग मिशन पर डा. फाबेक के साथ कार्य किया था। Giles Tillotson op.cit, p. 142। **38.** स्विन्टन जेकब, महाराजा सवाई रामसिंह द्वितीय के दरबार में इन्जीनियर का काम कर रहे थे। **39.** Giles Tillotson, op.cit] p. 142। **40.** रीता प्रताप, जयपुर की चित्रांकन परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2011, पृ. 223। **41.** द्रष्टव्य, सविन्द्र सिंह चुग एवं बिरदी चन्द मालाकार, भारतीय चित्रकला, अंजली प्रकाशन किशनगढ़, 2004, पृ.118। **42.** मीना संघवी, 'कलागुरू तारा पदो मित्रा', संरचना, (कालेज़ पत्रिका), राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर, 1969 पृ.2। जयसिंह नीरज, भगवतीलाल शर्मा, राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2006, पृ. 78। **43.** मीना संघवी, पूर्वोक्त पृ.2। **44.** Valentine Cameron Prinsep का जन्म 1838 में कलकत्ता में हुआ था जो ब्रिटिशराज के एक सिविल अधिकारी के पुत्र थे, अपने जन्म के 4-5 वर्ष बाद ही लन्दन चले गये थे। वहीं पर उनकी शिक्षा हुई और वे एक प्राक-राफेल कलाकार के रूप में जाने गये जो तैल रंगों में यथार्थवादी रूपों को चित्रित करते थे। वे 1877 में पुनः भारत भ्रमण पर आये थे तब उन्होंने दिल्ली दरबार के भी बहुत से चित्र बनाये थे। **45.** Giles Tillotson op.cit, p. 142। **46.** Vibhuti Sachadev, 'Negotiating Modernity in the Princely State of Jaipur', South Asian Studies, (online journal),Vol.28, no.2, September 2012, pp. 171-181, रामशंकर व्यास, श्री रामशंकर व्यास परिभ्रमण अथवा श्री नाथराज्याभिषेक दर्शन, पटना, खडगविलास प्रेस, 1909, पृ.64।

❐❐

(आचार्य- चित्रकला विभाग,
राजकीय महाविद्यालय टोंक)
301/5, व्यास मार्ग, राजा पार्क, जयपुर-
302004 (राज.), मो. 9414231943

ध्रुपद, कबीर और नवाचार

डॉ. प्रियंका

ध्रुपद भारतीय शास्त्रीय संगीत की सबसे प्राचीनतम शैली मानी जाती है जो प्राचीन ध्रुवा या ध्रुव-गायन की परंपरा से प्रचलित हुई थी। यह संस्कृत के ध्रुव व पद से मिलकर बना है। ध्रुव का अर्थ होता है– निश्चल, अटल, स्थिर। पद का अर्थ 'काव्य पंक्तियां'। अर्थात् जो पद स्थिर हो वह ध्रुपद है। ध्रुपद में अपनी इच्छा से परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसीलिए भारतीय शास्त्रीय संगीत की शैलियों में ध्रुपद का स्थान उसकी शुद्धता, गम्भीरता, उच्चता के कारण सूर्य के समान माना जाता है। नाट्यशास्त्र में ध्रुवा की परिभाषा में कहा गया है–

'ध्रुवावर्णास्त्वह्यलङ्कारा यतयः पाणयो लयाः।
ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा यस्माद् तस्मात् ध्रुवाः स्मृताः।।'[1]

अर्थात् जिस रचना में ध्रुवा, वर्ण, अलंकार, यति, पाणि, लय आदि का परस्पर नियत तथा अटल सामंजस्य होता है, उसे इसी नियत सामंजस्य के कारण ध्रुव कहते हैं।

इस गायन शैली के आविष्कारक कौन थे इसके बारे में स्पष्ट नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह गान-शैली प्रबंध, ध्रुवा का ही विकसित रूप है जो कि अति प्राचीन समय से चली आ रही थी। हमारे यहाँ जो चार वेद हैं उन चार वेदों में तीन वेद ऐसे हैं जिनका पठन होता है लेकिन एक वेद ऐसा है जो गेय है– वो है सामवेद। सामवेद की ऋचाओं के गायन की पद्धति से ध्रुपद के गायन का आविष्कार हुआ। ध्रुपद की उत्पत्ति सामवेद से हुई है। अपने आरंभिक समय में ध्रुपद का मुख्य ध्येय ध्यान, साधना एवं मन्दिर में भगवान की सेवा करना था। फिर धीरे-धीरे वो राजदरबारों में पहुँचा। स्वामी हरिदास, बैजू बावरा, तानसेन ध्रुपद के श्रेष्ठ कलाकार थे। जगत विख्यात है कि मियाँ तानसेन ध्रुपद में मील का पत्थर हैं। तानसेन ने जब मियांमल्हार गाया तो पानी बरसा अर्थात् उनकी आध्यात्मिक शक्ति कितनी रही होगी! यह उनके गायन में सुर की शक्ति थी। इस गायन शैली के प्रथम गायक गोपाल नायक को माना जाता है जिन्होंने राग भीमपलासी को सुर-ताल में निबद्ध करके ध्रुपद गाया था। भक्तिकालीन समाज में भक्त संगीतज्ञों और दरबारी संगीत प्रेमियों ने ध्रुपद की गायकी का चरम विकास किया। इस गायन शैली का सबसे अधिक प्रचार मध्यकाल में ही हुआ। मुगल सम्राटों के दरबारी कलावंतों तथा ब्रज के धार्मिक गायकों ने अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार इसका अध्ययन किया। इस प्रकार ध्रुपद के दरबारी और धार्मिक दोनों स्वरूपों का विकास हुआ। स्वामी हरिदास, बख्शू, तानसेन, बैजू, चिंतामणि श्रेष्ठ ध्रुपदकार थे। बख्शू के 1000 ध्रुपदों का संग्रह शाहजहाँ के काल में एक फारसी विद्वान के द्वारा संग्रहित किया गया तथा 'सहसरस' के नाम से इसे शाहजहाँ को भेंट किया गया। इन ध्रुपदों में बख्शू के नाम के स्थान पर शाहजहाँ का नाम कर दिया गया।

इस गायन को विशिष्ट पद रचना और शैली में ढालने का कार्य ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने किया था। उन्होंने बैजू, बख्शू, चरजू आदि महान गायकों तथा विद्वानों से तर्क-वितर्क करके एक पुस्तक की रचना करवाई जो 'मानकुतुहल' के नाम से विख्यात है। इस पुस्तक की विशेषता यह थी कि यह संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध न होकर उस समय की लोकभाषा में है। इस पुस्तक में पहली बार ध्रुपद के लक्षणों के उल्लेख मिलते हैं। सगुण भक्ति काव्य के कविगण ध्रुपद गायन में सिद्ध थे। वल्लभ संप्रदाय में इस गायन शैली का प्रयोग किया गया। अष्टछाप कवियों द्वारा इस शैली का प्रयोग किए जाने का एक कारण यह भी बताया गया है कि उनका लक्ष्य इष्ट के सम्मुख बैठकर उनके यश के गुणगान को सुनाना था जो इसी शैली में अर्थात् ध्रुवपद की स्थाई, अन्तरा, संचारी, आभोग में ही संभव हो सकता था।[2]

ध्रुपद गायकी के प्रमुख आधार राग का आलाप, ताल, लय और भाव हैं। राग का शुद्ध रूप ध्रुपद के आलाप एवं रचनाओं में मिलता है। ध्रुपद पर मध्यदेशीय भाषाओं का प्रभाव स्वीकार किया जाता है। बादशाह 'मोहम्मदशाह रंगीला के सभापंडित वेद के अनुसार ध्रुवपद में उद्ग्राह, ध्रुवक और आभोग नामक तीन धातुएं मध्यदेशीय भाषा से युक्त होती हैं।[3] ध्रुपद के चार खंड होते हैं– स्थाई, अंतरा, आभोग और संचारी। वर्तमान समय में इन चारों खंड की गायकी कम देखने को मिलती है। अधिकतर स्थाई और अंतरा ही सुनने को मिलता है। इस गायन शैली में आलाप, मध्य लय आलाप (जिसे जोड़ कहते हैं), द्रुत लय आलाप (जिसे झाला भी कहा जाता है) एवं बंदिश ये चार खंड होते हैं। जिन शब्दों के माध्यम से आलाप किया जाता है वे हैं– आ, र, न, ना/ ते, त, र, न, ना/ री, नू, र, न, ना/ त, ना, तूम जो 'हरि ओम अनंत नारायण तू ही तरन तारन त्वम्' मंत्र से लिए गए हैं। ध्रुपद की विभिन्न शैलियों को वाणियाँ कहते हैं। ध्रुपद की चार वाणियां प्रसिद्ध हैं– डागर, गौरहार, खंडार, नौहार। आज दो वाणियाँ प्रचार में हैं– डागर वाणी और गौरहार वाणी। बिहार के गायकों द्वारा गौरहार वाणी गायी जाती है। ध्रुपद गायकी में मृदंग या पखावज की संगत होती है जिससे इसकी गायकी में गंभीरता व भव्यता आती है। इस शैली में किसी भी राग में किसी भी रचना का गायन किया जा सकता है, किन्तु राग व रस का समन्वय आवश्यक है। ध्रुपद ऐसा गायन है जिससे सारे रसों की निष्पत्ति होती है। दरबारी गायक प्रायः शृंगारिक रचनाओं से अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन करते थे। वहीं भक्तगण वीर, शान्त व शृंगारिक रचनाओं के माध्यम से अपने इष्ट की स्तुति किया करते थे। पंडित अखिलेश गुन्देचा जी ध्रुपद के बारे में बताते हैं–'राजा मानसिंह तोमर ने ग्वालियर में इसको प्रश्रय दिया जिसकी वज़ह से आज ध्रुपद है। फिर यह डागर में आया। पहले गीति गायन होता था। हमारे यहाँ पाँच गीतियाँ मानी गई हैं- शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, वेगस्वरा, साधारणी। इनमें से चार गीतियों का सम्मिश्रण करके एक गीति बनी 'साधारणी'। साधारणी गीति से डागर वाणी का आविष्कार हुआ। वेगस्वरा गीति से कर्नाटकी संगीत का आविष्कार हुआ। इसमें वेग यानी तेज यानी स्वर की तीव्रता होती है। कर्नाटकी संगीत उत्तर भारतीय संगीत की तरह मंद गति का नहीं है। उसमें हमेशा तीव्रता एवं आंदोलन बना हुआ रहता है। उत्तर भारतीय संगीत में स्वरों में ठहराव है, तानें तेज हैं।'

ध्रुपद गायन की विशेषता आलाप के माध्यम से राग का विस्तार करना, विभिन्न तालों में बंदिश एवं लयकारी है। आलाप को मींड, गमक, घसीट आदि क्रियाओं के माध्यम से सजाया जाता है। मध्यकाल में ध्रुपद गायक को गान शैली की भव्यता, गंभीरता व अति कष्ट साध्यता के कारण सर्वोच्च स्थान दिया जाता था। इसकी गायन शैली अत्यधिक अनुशासन की मांग करती है। भातखण्डे जी ने इसे मर्दाना व ज़ोरदार गान कहा है, लेकिन वर्तमान समय में बहुत सारी महिला ध्रुपद साधिकाएँ इसका प्रचार कर रही हैं। इस गायन शैली का धार्मिक और पारंपरिक रूप आज भी नाथद्वारा, काँकरोली आदि में देखा जा सकता है। वर्तमान समय में हमारा प्राचीन संगीत कहीं न कहीं हाशिए की सीमा तक पहुँच चुका है, जिसे कुछ दिग्गज कलाकारों के द्वारा आज भी स्थापित करने में गंभीरता के साथ प्रयास

किया जा रहा है। इस परंपरा में भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्राचीन शैली ध्रुपद को वर्तमान में स्थापित करने में गुन्देचा बंधुओं का योगदान सराहनीय है। उन्होंने ध्रुपद को फिर से स्थापित करने में अहम् भूमिका निभाई। बीसवीं सदी के मध्य ध्रुपद को आधुनिक संवेदना के अनुकूल ढालने का ऐतिहासिक काम इस घराने के उस्तादों ने किया। स्वर लगाव की पुरानी गंभीरता को बरकरार रख उसे माइक्रोफोन के उपयुक्त बनाया। मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में गुन्देचा बंधुओं ने गुरु-शिष्य परंपरा के तहत 4 नवंबर 2004 में ध्रुपद गुरुकुल की स्थापना की, जिसका उद्घाटन पंडित भीमसेन जोशी जी ने किया था। वर्ष 2012 में पंडित उमाकांत गुन्देचा और पंडित रमाकांत गुन्देचा जी को ध्रुपद में विशेष योगदान के लिए पद्मश्री एवं वर्ष 2017 में संगीत नाटक अकादमी से सम्मानित किया जा चुका है।

गुन्देचा बंधुओं का यह कार्य सदैव प्रशंसनीय रहेगा कि इन्होंने साहित्य के प्रसिद्ध कवियों जैसे मध्यकालीन कवि कबीर, पद्माकर, केशव, छायावादी कवि प्रसाद, निराला, महादेवी, पंत आदि की रचनाओं को ध्रुपद में प्रस्तुत किया। समकालीन कवि राजेश जोशी जी की कविताओं पर केन्द्रित कार्यक्रम 'शब्द नाद' के अंतर्गत एक समकालीन कवि द्वारा अपनी रचनाओं की प्रस्तुति देते हुए आपने प्रत्येक कविता के पश्चात ध्रुपद में आलाप प्रस्तुत किए। वर्तमान समय में दो अलग-अलग क्षेत्रों (काव्य एवं संगीत) की कलाओं एवं कलाकारों के बीच सामंजस्य की भावना एवं हमारी प्राचीन संगीत परम्परा को युवा पीढ़ी के समक्ष प्रस्तुत करना गुन्देचा बंधुओं द्वारा किया जाने वाला एक महत्वपूर्ण कार्य है।

कबीर एक ऐसा नाम है जो साहित्य जगत में मील का पत्थर है। वे निरक्षर थे परन्तु सत्य तो यह है कि वे ज्ञानियों के ज्ञानी थे। उनके काव्य में शब्द भले ही न रहे हों, लेकिन उनका अनुभूति का पक्ष बेहद काव्यात्मक या कोमल समृद्ध है। संगीत जगत में भी कबीर की रचनाओं पर कह दिया जाता है कि उनकी रचनाओं को शास्त्रीय संगीत में प्रस्तुत करना एक जटिल कार्य है। सचमुच कबीर के शब्दों को ध्रुपद में बांधना गुन्देचा बंधुओं के लिए भी आसान तो नहीं ही रहा होगा किन्तु उन्होंने कबीर की रचनाओं को ध्रुपद में पेश कर जो कार्य किया वह कबीर के पाठकों को अक्षर ब्रह्म से आगे नाद ब्रह्म का अनुभव कराता है।

गुन्देचा बंधुओं द्वारा कैसे साहित्यिक रचनाओं को ध्रुपद में ढालने का सिलसिला शुरू हुआ इस विषय में पद्मश्री पंडित उमाकांत गुन्देचा जी कहते हैं– 'एक तो कबीर को सभी लोगों ने गाया यानी कि शास्त्रीय, लोक एवं सुगम संगीत में कबीर गाए जाते रहे, दूसरा कबीर के पदों को अन्य भाषाओं में अनूदित भी किया गया। जिससे उनके विचार सारे देश और दुनिया में गए। लेकिन कबीर को ध्रुपद में किसी ने भी नहीं गाया था। लंदन में एक कार्यक्रम हुआ, जिसका हिन्दी अर्थ है 'बुनना'। उस कार्यक्रम के लिए हमने ध्रुपद में 'झीनी झीनी चदरिया' राग चारुकेशी में रचा। हमारे लिए चुनौती यही थी कि ध्रुपद की फ्रेम मेंटेन रहे। यह रचना बहुत ही सफल रचना रही। प्रत्येक कार्यक्रम में श्रोताओं द्वारा इसकी मांग रहती है। मैं यही कहूँगा कि कबीर को हमने जब भी ध्रुपद में गाया हमें गाकर बड़ा आनंद आया।' कबीर के पद 'झीनी-झीनी चदरिया' के पश्चात् कबीर के अन्य पद को गुंदेचा बंधुओं द्वारा ध्रुपद राग भैरवी में प्रस्तुत किया गया–

हम सब मांही सकल हम मांही,
हम थे और दूसरा नाही।
तीन लोक में हमारा पसारा,
आवा गमन सब खेल हमारा।
हम सब मांही...।
षट दर्शन कहियत भेखा,
हम ही अतीत रूप नहीं रेखा।
हम सब मांही...।
हम ही आप कबीर कहावा,
हम ही अपना आप लखावा।
हम सब मांही...।

इस रचना में कबीर का अहम् ब्रह्मास्मि का दर्शन व्यक्त हुआ है। पंडित अखिलेश गुन्देचा जी का कहना है-'हम सब माहीं' एवं 'झीनी चदरिया' का मूड और

राग अलग-अलग हैं। 'हम सब माहीं' राग भैरवी में है जिसमें ओज है एवं 'झीनी झीनी चदरिया' राग चारुकेशी में है।'

कबीर के विचारों से समाज लाभान्वित होता रहा है और आगे भी उनके विचार एक स्वच्छ समाज के निर्माण में सहायक होंगे। समय के साथ-साथ उनकी रचनाओं को संगीतकारों द्वारा अलग-अलग शैली विशेष में प्रस्तुत किया जाता रहा है। आज कबीर की रचनाएँ पाश्चात्य संगीत शैली में भी सुनने को मिलती हैं। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि बदलते हुए समाज में संगीत का जो भी परिवर्तन होगा उन सभी परिवर्तनों में कबीर की रचनाएँ गायी जाती रहेंगी क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना है।

इस संदर्भ में पंडित अखिलेश गुन्देचा जी कहते हैं कि– 'डागर वाणी में ध्रुपद का गायन 20 पीढ़ियों से चला आ रहा है। लगभग 400-500 साल पहले से। डागर वाणी में परंपरागत रचनाओं का गायन किया जाता रहा है। लेकिन 1990 के आसपास टाइम्स ऑफ इंडिया ने एक सीरीज निकाली थी 'भक्तिमाला'। जिसमें पंडित भीमसेन जोशी, पंडित जसराज, विदुषी अश्विनी भिंडे देशपांडे, पंडित राजन-साजन मिश्रा जैसे 12-16 कलाकारों से शिव, राम, हनुमान और गणेश के पदों का गायन करवाया गया। उस समय गुन्देचा ब्रदर्स से कहा गया कि आप भी इन चारों के पद गाइए। हम भाइयों को ऐसा लगा कि हमारे यहाँ भक्तिकालीन संत हुए हैं। उन्होंने कितनी अच्छी रचनाएँ रचीं। भाइयों के दिमाग में आया कि इनको भी कंपोज करना चाहिए।[4]

जिस प्रकार ख्याल गायन में अधिकतर बड़ा ख्याल एकताल एवं छोटा ख्याल तीनताल में गाया जाता है उसी प्रकार ध्रुपद में मुख्य ताल चौताल है जो 12 मात्राओं का होता है। ध्रुपद के साथ ही एक नाम आता है धमार। धमार एक पद का नाम भी है, एक ताल का नाम भी है। धमार का पद 14 मात्राओं में गाया जाता है। धमार के पद में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। ध्रुपद जिन अन्य तालों में गाया जाता है, उनके नाम हैं– तीव्रा, सादरा, रुद्र, आदिताल, सूलताल, उसूल-ए-फाक्ता, मत्तताल आदि।

संगीत में बाहरी संस्कृतियों की भले ही छाप पड़ती हुई नज़र आए किन्तु भारत देश ही वह देश है जिसने विश्व को सात सुरों का बोध कराया। अपने देश में संगीत मात्र मनोरंजन का विषय नहीं है बल्कि ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने का माध्यम है। यह अध्यात्म का विषय है जिसमें भारतीय संगीत की प्राचीन शैली 'ध्रुपद' है।

संदर्भ :

1. नाट्यशास्त्र द्वात्रिंशोऽध्याय, श्लोक-8, नाट्यशास्त्र अनुवादक– अभिनव गुप्ता, सम्पादक– मधुसूदन शास्त्री, प्रकाशन– बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय भाग-1975। **2.** मध्ययुगीन वैष्णव संप्रदायों में संगीत, डॉ. राकेशबाला सक्सेना, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990, पृ.-115। **3.** भारतीय साहित्य की भूमिका, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-1996, पृ.-168। **4.** पद्मश्री पंडित उमाकांत गुन्देचाजी एवं पंडित अखिलेश गुन्देचा जी के साथ हुए वार्तालाप के अंश।

❐❐

सहायक प्राध्यापक
हिन्दी विभाग (माउंट कार्मल कॉलेज, स्वायत्त)
बैंगलोर, मो. 7290859844
इमेल- prix3030@gmail.com

असफलता ये बताती है कि प्रयास पूरे मन से नहीं किया गया।
- श्रीराम शर्मा आचार्य

....

फलदार पेड़ और गुणवान व्यक्ति ही झुकते हैं, सूखा पेड़ और मूर्ख व्यक्ति कभी नहीं झुकते। कदर किरदार की होती है वरना... कद में तो साया भी इंसान से बड़ा होता है...।

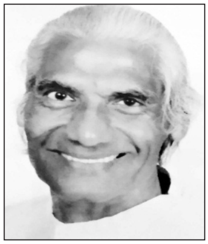

लोक साहित्य में सांस्कृतिक मूल्य

डॉ. किशोर काबरा

लोक साहित्य मानवीय संचेतनाओं का अलिखित जीवन्त इतिहास है। लोक साहित्य, लोक जीवन का केवल दर्पण नहीं, दर्पण में दिखाई देने वाला प्रतिबिम्ब भी है। सामान्य मनुष्य के सुख-दुःख, राग-विराग, प्रेम- घृणा, जीत-हार, संयोग-वियोग आदि के जीते-जागते और रोते-गाते चित्र यदि किसी साहित्य में हैं तो वह लोक साहित्य है। धर्म, जाति, प्रदेश, वर्ण, वर्ग और लिंग के असमान रेगिस्तान में लोक, साहित्य एक लहलहाता नखलिस्तान है, जो सदियों से समय के सार्थवाह को सुखद विश्राम प्रदान करता आ रहा है। **समस्त विश्व की एकता के बीज यदि कहीं छिपे पड़े हैं तो वह लोक साहित्य की सोंधी माटी में है।** जहाँ प्रेम और पीड़ा के गंगा-यमुनी अश्रु-प्रवाह का संस्पर्श पाकर वे अंकुरित ही नहीं होते, बल्कि पल्लवित, पुष्पित और फलित होकर पुनः बीज के रूप में सम्पूर्ण विश्व में फैल जाते हैं।

गाँधीजी ने एक जगह कहा है कि लोक साहित्य में जन-साधारण का हृदय बोलता है। उन्होंने लोकगीतों को 'लोक जीवन की गीता' कहा है। इंग्लैण्ड के रोमांटिक काल के कई कवि एवं आलोचक लोकगीतों की मोहकता से इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि वास्तविक कविता के लिए उन्होंने लोकगीतों को ही आधार माना। लोक साहित्य की इसी प्रभावशीलता ने साहित्य में प्रमिटिविज्म (आदिमवृत्तिवाद) को जन्म दिया। महान अमेरिकन लेखक थोरे ने इसीलिए ग्रामीण विश्वविद्यालयों की कल्पना की थी।

हमारे यहां 'लोक' शब्द संस्कृति-वाचक और संस्कृति शब्द लोकवाचक है। आश्चर्य है कि ये दोनों शब्द एक-दूसरे के पूरक भी हैं और विलोम भी। 'लोक' का सामान्य अर्थ सम्पूर्ण मानव सृष्टि है, किन्तु विशेष पाश्चात्य अर्थ में उसे ग्रामीण, अशिक्षित, असंस्कृत एवं सभ्यता से दूर वनप्रांतों एवं अंचलों में रहनेवाले सामान्यजन एवं उनके परिवेश का पर्यायवाची माना गया है। 'संस्कृति' को शिष्ट एवं परिष्कृत कृति का पर्याय माना गया है, वह श्रेष्ठ कर्मों एवं विचारों का समुच्च तथा संस्कारों का समन्वय कहलाती है, वहीं वह संवेदनाओं की स्वाभाविक प्रस्तुति और भावों की प्राकृतिक अभिव्यक्ति भी बन जाती है। 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति सम् उपसर्ग, कृ धातु और क्तिन् प्रत्यय से हुई है, जिसका अर्थ है– संस्करण, परिष्करण, परिमार्जन। शुद्ध वैदिक शब्दावली में इसका समानार्थी कृष्टि शब्द है, जिसका अर्थ है कृषि। यह अंग्रेजी के कल्चर से मिलता-जुलता है, क्योंकि वह लेटिन शब्द कुल्तुरा से बना है, जिसका अर्थ भी भूमि जोतना या कृषि करना है। वैसे भी कल्चर इस समय कृषि के अर्थ में भी प्रयुक्त है। वस्तुतः हम श्रेष्ठ विचारों एवं कर्मों को लोक की भूमि पर बोकर नई पीढ़ी के लिए उन्नत जीवन-मूल्यों की फसल तैयार करते हैं, संस्कृति के रूप में। इस तरह मूल शब्द अपना अर्थ खो बैठा और अब नृत्य, संगीत, साहित्य और कला से जुड़ी हुई बातों ही संस्कृति में रह गई हैं। पहले पूरा जीवन था, उसी तरह जिस तरह आज भी लोक में पूरा जीवन है।

साहित्य और संस्कृति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सम्यक् कृति, सुधरी हुई कृति या हितकारी कृति ही संस्कृति है तो साहित्य भी हित का भाव ही रखता है। संस्कृति यदि साहित्य का प्राण है तो सहित्य, संस्कृति का आधार। **संस्कृति मानवता का मेरुदंड है, शिष्टता सौजन्य एवं शील की आधारशिला है, वह पूर्व संचित परंपराओं का कोष है।** संस्कृत के पांच अवयव हैं– धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण और संस्कार। ये पांचों साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। संस्कृति का निर्माण आचार से होता है, आचार का विचार से उद्भव होता है। जब आधारभूत केन्द्रीय विचार नष्ट हो जाते हैं तो संस्कृति नष्ट हो जाती है, इसी से विश्व की कई संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं या दूसरी संस्कृतियों में विलीन हो गई हैं। किसी देश या जाति के जीवन-मूल्यों को सार्वदेशिकता या सार्वभौमिकता तभी प्राप्त होती है, जब उनमें शाश्वत-तत्व होते हैं। भारतीय संस्कृति में 'वसुधैव कुटुम्बक्रम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा, 'सर्वभूत हिते रताः' जैसे मूलाधार हैं, इसीलिए वह नित नवीन है, पुरातन होते हुए भी सनातन है। उसमें समायोजन और संयोजन की अद्भुत क्षमता है। रामधारीसिंह दिनकर ने इसीलिए 'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रंथ में भारतीय संस्कृति को 'सामासिक और सर्वग्राही' कहा है।

लोक साहित्य सामान्य जनसमूह के द्वारा निर्मित उस साहित्य को कहते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप में यात्रा करता हुआ आगे बढ़ता है। हमारे यहाँ 'श्रुति' और 'स्मृति' की अवधारणा इसीलिए है। लोक साहित्य का फलक बहुत बड़ा है। इसमें गीत, कथा, नाट्य, संगीत, उक्ति आदि के साथ चित्र, मूर्ति जैसे स्थिर माध्यम भी सम्मिलित हैं। वस्तुतः अभिव्यक्ति मूलक सभी ललित एवं मूर्त कलाएँ इसमें आ जाती हैं। लोक साहित्य के विषय में एक चीनी विचारक का कथन है कि वह किसी एक व्यक्ति का निर्माण नहीं होता, न ही किसी एक व्यक्ति के द्वारा उसका प्रयोग होता है। वह लोक द्वारा लोक के लिए किया गया सामूहिक अभिव्यक्तियज्ञ है। जनसामान्य की लोकभाषा का यह अलिखित साहित्य, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त और व्यष्टि से लेकर समष्टि तक सम्पूर्ण संस्कृति को पुष्ट करता रहता है। भारतवर्ष की कई लोककथाएं पूरे विश्व में नए-नए रूप धारण करके भ्रमण कर रही हैं। ये एक मुँह से दूसरे मुँह तक और एक कान से दूसरे कान तक निरन्तर यात्रा कर रही हैं। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, कर्पूरमंजरी, दशकुमार चरित्र, कथासरित्सागर, बेताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि ऐसे कितने ही ज्ञात-अज्ञात संस्कृत ग्रंथ हैं, जिनके आधार पर निर्मित हुई लोककथाएँ-लोकगाथाएँ देश, काल एवं स्थिति के अनुसार अपना रूप-रंग बदलकर लोककंठ में बसी हुई हैं। कितने ही लोकगीत अपने स्वर-ढाल बदलकर अलग-अलग अंचलों में गाए जा रहे हैं। यह लोक साहित्य इतिहास के अंधेरे को दूर करता है, सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा करता है और नये इंद्रधनुषी रंग पोतकर उन्हें युगानुरूप बनाता है। लोककथा हो या लोकगीत, सब यहां लोककंठ पर विराजमान हैं। उनके सर्जक अंधेरे में लुप्त हैं, मात्र लोककथा-लोकगीत ही जीवित हैं। इन लोककथाओं लोकगीतों और लोकोत्सवों में नृवंशशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नाद-वैभव, संगीत-तत्व, शब्द-सम्पत्ति और लोकरुचि का ऐसा समन्वय है कि लोक साहित्य को यदि लोकशास्त्र कहें, तो अनुचित नहीं होगा। लोक साहित्य में सुरक्षित सांस्कृतिक मूल्यों का जब हम अवलोकन करते हैं तो ज्ञात होता है कि जीवन के सम्पूर्ण अस्तित्व को उसके सभी आयामों के साथ उसमें स्थान मिलता है।

लोक साहित्य में **लोकगीत सर्वाधिक व्यापक विधा है।** मन के राग और विराग, जब चेतन जगत में अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त करते, तब वे अचेतन मानस में गीत बनकर अंकुरित होते हैं और स्वर का साथ पाकर पल्लवित-पुष्पित होते हैं। लोकगीतों में मानवीय संवेदनाओं के अनेक आयामी शब्दचित्र गाँव-गलियों के चौपालों में जन्म लेकर खेत-खलिहानों, महल-मकानों और अपने-बेगानों तक फैल जाते हैं। हरी-भरी वसुन्धरा की सुहागिन मुस्कान, कमनसीब विधवा, पगडंडी की बैरागिन पीड़ा, कुँआरी गुलमुहर की हथेली पर लगी मेहंदी की सलज्ज आकांक्षा, जीवन और मृत्यु की श्वेत-श्याम आँख मिचौनी अर्थात् व्यक्ति से लेकर समष्टि तक के समस्त आरोह-अवरोह एवं सुख-दुःख लोकगीतों के प्राणों में व्याप्त हैं।

मानव के अश्रु और उत्सव लोकगीतों की ओट पाकर जीवन के शाश्वत आनंद की पृष्ठभूमि बन गए हैं।

ग्राम्या नारी के लिए तो लोकगीत ही अपने को अभिव्यक्त करने का एकमात्र साधन है। स्त्री जिन बातों को संकोच या लज्जावश किसी के सामने कह नहीं पाती, उन्हीं बातों को गीतों के माध्यम से बड़ी सरलतापूर्वक कह देती है। वस्तुतः लोकगीत नारी-जीवन के कंठहार हैं। निमिया और अम्बुवा की छाया में खेलने वाली कन्या नवयौवना हो गई है। उसके मन में जीवन-साथी की एक तस्वीर उभरती है, पर अपने अन्तर की बात वह किससे कहे? कन्या के इस उहापोह को गीतों ने हल कर दिया। राजस्थानी कन्या अपने पिता से गीत की आड़ में कहती है कि बाबुल, मेरे लिए लम्बा, ठिगना या काला वर मत ढूँढ़ना; और तो और, गोरा वर भी मत ढूँढ़ना, क्योंकि–

लाँबो मत हेरो सांगर चूँट ल्यावै,
ओछो मत हेरो पंगात्या गुड़ जावै।........
काळो मत हेरो कुल नै लजावै,
गोरो मत हेरो नजर लग जावै

गुजरात की अल्हड़ बाला भी लगभग ये ही भाव व्यक्त करती है– *एक गोरो ने वर मत जोशो रे मामा,*
गोरा नै नित नजरो लागशे।

मुझे तो ऐसे साँवरिया की तलाश है, जिसके रूप-यौवन का वर्णन मेरी सहेली ने किया है–

एक केड़े पातळियो ने मुखड़े शामळियो,
ए वर मारी सहियरे वखाणियो।
एक पाणी भरती पणियारिए बखाणियो,
ने भलो रे बखाण्यो मारी भाभी ए।

विवाह-मंडप तन गया है। मेहमान आने लगे हैं, लेकिन जब तक गणेशजी न आएं, तब तक कोई भी मांगलिक कार्य नहीं हो सकता। कौरवी महिलाएं गणपत को बुला रही हैं– *आज मेरे ग्यान गणपत आए।*
गणपत आए मेरे सिर पै बैठे,
अच्छे-अच्छे साल दुसाले उढ़ाए।

गणपति को ही नहीं, वैवाहिक मंगलाचार में सभी जातियों को न्यौता दिया जाता है। विवाह के अवसर पर गाए जानेवाले लोकगीतों में जाति व वर्ण-समन्वय का जो रूप दिखाई देता है, वह अद्‌भुत है। मालवा की स्त्रियां गा रही है-

चालो गजानन, खेराती के चालाँ,
तो आछा-आछा तोरण बँधावाँ।
चालो गजानन, सोनीड़ा के चालाँ,
तो आछी-आछी रकमाँ घड़ावाँ।'

ये लोकगीत ही हैं, जिनमें शुक दूल्हे की खोज करता है, सारस-हंस 'बरातियों की अगवानी करते हैं, कौआ मेहमानों को निमंत्रण देता है, देवी- देवता और झाड़-पान वर-वधू को आशीर्वाद देते हैं। सप्तपदी हो रही है। दूल्हा-दूल्हन के फेरे हो रहे हैं। गढ़वाली महिलाएँ आँखों में आँसू लेकर गा रही हैं–

पेलो फेरो लाड़ी कन्या कुँवारी,
दूजो फेरी लाड़ी माँ की दुलारी,
सातो फेरो लाड़ी हे चुकी तुम्हारी।

अब सुहाग-सिंदूर देने की रस्म अदा की जा रही है। बुंदेलखंड में सुहाग-सिंदूर एक सुहागिन धोबिन के द्वारा किया जाता है। एक कथा में कहा गया है कि गंगा मैया की परम भक्त एक धोबिन ने अखण्ड पतिव्रत के प्रभाव से अपने मृत पति को जीवित किया था, परिणामस्वरूप चिर सौभाग्य-कामिनी के लिए धोबिन भी आराध्या बन गईं। बघेली के इस 'सोहाग गीत' में यही संकेत है–

अरे, धोबिया के द्वारे चंदन बड़ा रुखवा,
अरे, ओहितेरेजोग बिकाय राजा के सोहगवा।

धड़कते दिल से नववधू डोली में बैठती है। माँ अपने दिल के टुकड़े को परदेसी जमाई के हाथों सौंप रही है और आँखों की गंगा-यमुना में बहती हुई पत्थर दिल को पिघलाने वाला गीत गा रही है–

ओ सासू गार मती दीजो,
आओ म्हारी चंपक लाड़क बेटी,
इने पापड़ दे रे, पढ़ाई!

'गाय अने दीकरी दोरे त्याँ जाय' जैसी कहावत को जीनेवाली गुजराती कन्या विदा होते समय अपने दादाजी से कहती है–

दादा ने व्हाला दीकरा, अमने दीधां परदेस।

बिसरती हुई सखियाँ भी उपालंभ देती हैं–

एक आव्यो तो परदेसी पोपटो,
बेनी रमतां ता माडवे रे, धुतारों धूती गयो।

एक 'माँ' नामक स्त्री, 'बेटी' नामक स्त्री को विदा कर रही है अश्रु का उपहार देकर; एक 'सास' नामक स्त्री गीतों की आरती सजाकर दरवाजे पर स्वागत कर रही है। स्त्री कितने अन्तर्द्वन्द्वों में जी लेती है, हास और रुदन का मिश्रित परिणाम ही है स्त्री का नाम!

संयोग शृंगार के मांसल दृश्यों की भी कमी नहीं है लोकगीतों में। दाम्पत्य जीवन की स्वाभाविक चेष्टाओं, मान- मनौबलों, शिकवा–शिकायतों एवं रतिक्रीड़ाओं का अवगुंठित रूप देश के सभी लोकगीतों में भरा पड़ा है। पत्नी पति से शिकायत कर रही है–

कदें ये न माणी भँवरजी पीलंग पैजी,
हाँजी ढोला, कदे ये न करी मणवार,
कदे ये न तोड़ी कस काँचली जी!

दाम्पत्य जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों को मिथकीय संस्पर्श देकर लोकगीत में गुजराती स्त्रियां कहती हैं–

लविंग केरी लाकड़िये राम सीता ने मार्या जो,
फूल केरे दडूलिये सीताए व्रेर वाल्यां जो।

प्रियतम यदि अशक्त है या कन्या का बेमेल विवाह हुआ है तो जीवन भर रोने के सिवाय और बचता क्या है? स्त्रियां व्यंग्य करती हैं–

दारी बागड़ सरीखी नार, बालम छोटा-सा,
मर जांवे तारा माय न बाप,
लाजां मति मारो भरतार, बालम छोटा-सा।

x x x

पति को पत्नी रोष में भरकर पीहर से पत्र लिखती है–

बाड़ी सूखे बापड़ी, कुएँ सूखे कचनार,
गोरी सूखे बाप के, हीण पुरुष की नार।

पुत्र-प्राप्ति नारी जीवन की चरमोपलब्धि है। पुत्र-प्राप्ति के लिए एक मालवी स्त्री गंगा मैया से प्रार्थना करती है-

एक बारूड़ा के कारणे म्हारा सुसराजी बोले म्हने बोल,
एक बारूड़ा के कारणे म्हारा सायबजी लावे ल्होड़ी सौत,
माता म्हारी एक बारूड़ो देय।

सूनी गोद की पीड़ा बड़ी मर्मान्तक है। एक अपुत्रा स्त्री रो रही है–

माता, छाब्या लीप्या हो म्हारा ओटला,
माता नहि म्हारो खेलणहार।

देवी-देवताओं के आशीर्वाद और व्रत-उपवास की कृपा से स्त्री गर्भवती हो गई। नौ मास तक गर्भ धारण करनेवाली नारी विभिन्न इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं लालसाओं के मध्य से गुजरती है। एक मालवी गीत में गर्भवती की मनोदशा का सुन्दर चित्रण हुआ है–

पेले मास आंबा जांबू मन जावां हो लाग्यो,
दूसरा में आलस दिन, तीसरा में आवै झीणी नींद,
चौथा में ब्राग-बगीचा की सैर, पाँचवाँ में भावे दाख-चिरोंजी, छड्डा में खाटा बोर। सातवाँ में पूजी अगरणी, आठवाँ में लूची लापसी।

और नवमें मास में– *सुणोजी, सासूजी राज, ओजी ओवरो करो खाली।*

पुत्र-जन्म पर पूरे परिवार में आनन्द-उल्लास छा जाता है। नई माँ गीतों की लहरियों में अपनी प्रसव-पीड़ा भूल जाती है। यदि पुत्री का जन्म होता है तो परिवार में उदासी के बादल घिर आते हैं। समाज में कन्या को वांछनीय सम्मान नहीं मिलता, यह बात नारी अपने जीवन के अनुभवों से जानती है, जब वह कहती है–

जो हम जानती कि धिया कोख जनमि हैं,
पिअती हम मरिच झरार ए।

स्त्री के त्याग, तप और बलिदान को पुरुष ने हमेशा नकारा है, उसके दर्द की कथा को सबने कल्पित कहकर ठुकराया है, इसीलिए प्रत्येक युवती भगवान से यही प्रार्थना करती है कि– *'तिरिया जनम जनि दइयो मोरे राम!'*

स्त्री के लिए पति का सुख और पुत्र का मुख स्वर्गीय-सुख माने जाते हैं। पति चाहे जहाँ रहे, दिन भर चाहे जहाँ काम करे, किन्तु शाम को घर लौट आए, यही उसकी लालसा है। उसकी एक रात के सामने पति की नौकरी पासंग भर भी नहीं है। एक मालविका परदेश जानेवाले अपने पति से कह रही है–

लाख टका की थाँकी नौकरी,
करोड़ा मोहराँ की म्हारी रात,
मत जाओ पिउ परदेस, छोड़ी गोरी को हाथ।

गुजरात की ललना भी प्रिय को अपने से अलग नहीं कर पाती–

तमने व्हाली दरबारी चाकरी रे,
अमने व्हालो तमारो जीव।
गुलाबी, नहिं रे जावा दउँ तमने नौकरी।

राजस्थानी लोकगीत में निकट ही नौकरी कर लेने की बात कही गई है–

नेड़ी तो नेड़ी करजो पियांजी चाकरी जी,
साँझ पड्याँ घर आय जाओ गोरी रा बालमाँजी।

लेकिन पुरुष कभी परवाह नहीं करता स्त्री के अन्तर्मन में छिपी पीड़ा की। वह तो चला गया है परदेश। छत्तीसगढ़ी विरहिणी अपने पति के पास शुक को भेजती है, ताकि वह उसका सन्देश लेकर आए–

रे सुअना, पिया के संदेश लेई आव,
राजा मोर गए इवे उती बनीजवर।

लो काली-काली घटाएँ नभ को आक्रान्त कर रही हैं। बेचारी वियोगिनी कैसे धैर्य धारण करे? एक मैथिली लोकगीत में वियोगिनी की साड़ी भीग रही है, पर पति परदेश में बिराजे हैं–

कारी-कारी बदरी उमड़ि गगन माझे
लहरि बहे पुरवइया।
मत बदरा बूँद-बँद झहरह
धराए पलंग पर भीजत कुसुम रंग-सड़िया।

भादों मास में मयूर की 'टहुक' सुनकर कुमाऊँनी नारी का मन भी पिया-पिया बोल उठता है–

'सादोई भवन भयो घनघोरा,
पिहु-पिहु बोले बन काई मोरा।'

वियोग एकपक्षीय नहीं होता। गोरी यदि सूनी सेज पर आँसू बहा रही है तो प्रियतम भी सेना में रक्त रंजित हो रहे हैं–

'गोरी तो भीजे पिया गोखड़े जी,
आलीजो भीजे फौजां मांय।'

प्रियतम लौट आइए! उजड़े गाँव फिर बस जाएँगे, किन्तु गया हुआ यौवन लौटकर नहीं आनेवाला–

'उजड़ खेड़ा फेर बसे जी,
हाँजी, निरधनिया धन होय।
जौबन गयो नहीं पाछो बावड़े जी,
अब घर आओ झूरे धण एकली जी।'

पति की अनुपस्थिति में उसके प्रतिरूप पुत्र को लोरियां गाकर सुलाया जा रहा है। लोकगीतों में लोरियों और बालगीतों की कमी नहीं है। गुजरात में लौरियों को 'हालरड़ा' कहते हैं। एक हालरड़े में माँ अपने पुत्र को रन्नादे का प्रसाद मानकर कहती है– माँ, तूने पलने में पोढ़नेवाला बालक देकर मेरे वन्ध्यत्व का कलंक मिटाया है :

'घेर ने पछ्वाड़े रूडुँ घोडियुँ,
पारणानो पोढनार दीधो रन्नादे।
वाँझिया मेणा माँए भाँगिया।
धोयो-धपोयो मारो साड़लो,
खोळानो खूँदनार दीधो रन्नादे,
बाँझिया मेणा माँए भाँगिया।'

एक अन्य गीत में माँ बच्चे को सुलाते हुए कहती है :

'साव सोनानुँ मारू मारू माटड़ियुँ
ने घूघरिया धमकारा, बाळा पोढ़ो ने।
चार पाए चार पूतकियुँ
ने मोरवाए बे मोर, बाळा पोढ़ो ने।

बालक खेल-खेल में बड़ा हो रहा है। वह अपने साथियों के साथ खेल-कूद में मगन है। वह बादलों को देखकर रीझता है और उन्हें बुलाता है–

'आव रे वरसाद,
उनी-उनी रोटली ने कारेला नुं शाक।
थारी माँ ने बीछूं काट्यो दौड्यो दौड्यो आव।'

छोटे बच्चे अपने खेल में विभिन्न सार्थक-निरर्थक शब्दों से बने लघु गीतों का प्रयीग करते हैं। बालक गा रहे हैं–

'चाँदां बाबा पोली दे, घी की कचौरी दे,
आदो लाडू भावे नी। दादाजी परणावे नी,
झम्मक लाड़ी आवे नी।'

ब्रज के बालक तालियाँ बजाकर नाच रहे हैं–

'आटे-बाटे दही चटाके,
बन फूले बंगाली फूले।
बाबा लाए तोरई, भुंजि खाई भोरई।'

बालक का मुँह देखकर विरहिन अपने दिन काट रही है और एक दिन वह देखती है कि प्रियतम सौत लेकर घर में आ गए हैं। लोकगीतों में सौंतिया डाह का भी वर्णन हुआ है। पत्नी नाराज है। उसे अपने पति पर शंका है। प्रियतम को उसकी नई प्रेमिका संकेत करके बुलाती है, पर यह अपनी विवाहित से डरता है–

चतर म्हारे सेजाँ आजो जी,
मैं सेजाँ फिरूँ अकेली।... पपइया बोले जी।

भाएली, म्हारी, किस विध आवाँ ए,
म्हारी, परणी करे लड़ाई।

नारी का सौन्दर्य उसकी शक्ति है। वह पति को अपने सौन्दर्य से आकर्षित करना चाहती है। वस्त्र आभूषण, बिंदी, कूंकू, सिन्दूर, मेहंदी, महावर, उबटन, मिस्सी आदि कई सौन्दर्य-प्रसाधनों से वह बन-ठनकर पति का दिल जीतना चाहती है।

लोक- जीवन में ससुराल, सास-ननद आदि अत्याचार के प्रतीक बन गए हैं। पीहर की मुग्धा सद्यविवाहिता नवयुवती ससुराल में एकदम नवीन अजनबी वातावरण को आत्मसात नहीं कर पाती। जिस सास नें वधू-जीवन में अपनी सास के अत्याचार सहन किए, वह उनका बदला अपनी नई-नवेली बहू से लेती है। इस हवन में नंद और पड़ोस की गलित यौवनाएँ आहूतियाँ देती हैं। दुर्भाग्य से यदि पति ने भी अपनी माँ, बहन और पड़ोसी चाचियों का पक्ष लिया तो पीड़ित एवं कुद्ध वधू कुंठा और ढीठता की कोठरी में बंद होती चली जाती है। वधू-वर्ग की सम्पूर्ण प्रतिशोधात्मक एवं आक्रोशपूर्ण भावनाएँ सास एवं ननद के प्रति अभिव्यक्त हुई हैं–

लाडू म्हारा सुसराजी ने पेड़ा देवर जेठ,
सास हमारी सूगली ने कई नणदल खारी सेव।'

स्त्रियां तीज-त्यौहार एवं पूजा-अर्जना को जीवन में अनिवार्य मानती हैं। होली, राखी, दीपावली, गणगौर, करवाचौथ आदि पर्वों पर उनके गीतों की पवित्रता चौपालों, मंदिरों एवं गली-मुहल्लों में गूँज उठती है–

'रामा के हाथ ढोलकिया सोहे, लछिमन हाथ सहनाई,
भरत के हाथ मुरलिया सोहे, सत्रुहन बीन बजाई।
अवध मां खेले श्री रघुराई, संग में लिए जानकी माई।'

बहन के मन में भाई के प्रति स्नेह-सरोवर लहराता है। रक्षाबंधन, भाई-दूज आदि कई प्रसंगों पर वह अपने वीरा के गीत गाती है। विवाह के समय तो बहन अपने भाई को याद करती ही है–

'वीराँ चालो रे दुखणी बहेनी ने घेर,
उतारा देस्यूँ उँचा ओरड़ा'

भाई के स्वागत में गुजराती बहन पलक-पाँवड़े बिछाकर खड़ी है। वह उसके लिए सुमधुर भोजन बनाने की तैयारी करती है–

'रांधीस रांधीस रे वीरा, कोमुद ना कूर,
पासेर रांधीस काजू खीचड़ी।
पापड़ सेकीस रे वीरा पूनम केरो चाँद
ऊपर आदू ने गरमर आथणो।'

भाई से बीकानेरी चूनर मँगाने का आग्रह किया जा रहा है एक राजस्थानी बहन के द्वारा–

'छीपां रो घर चौवटे रे वीरा, असी तो छपाज्ये म्हारे चूँदड़ी,
जसी धणा री दाळ ओ वीरा, चूँदड़ लाजे रेशमी।'

विवाह के समय मोसारा लानेवाले भाई की प्रतीक्षा में बहन द्वार पर खड़ी है–

बागाँ में बाज्या जंगी ढोल, शेरां में बाजे शरणाई,
आयो म्हारो जामण जायो वीर, चूँदड़ लायो रेशमी।'

लोकगीतों में कृषि एवं उसके संवाहक किसान का भी यत्र-तत्र वर्णन हुआ है। कहावतों एवं लोकोक्तियों में कृषि-कर्म से सम्बन्धित बातें अनायास ही आ गई हैं। घाघ एवं भड्डरी की उक्तियां तो जैसे कृषिवेद ही हैं। गाँववाले को अपने गाँव, प्रदेश और खेत-खलिहान से प्राणाधिक प्रेम होता है। एक काँगड़ी लोकगीत में वहां के निवासी कह रहे हैं–

'जी, मेरा काँगड़ा देस निआरा,
डुगी-डुगी नदियाते सैली सैनी धारा।'

इसी प्रकार कुलूघाटी के निवासी अपने प्रान्त को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं–

ऋषि-मुनी राँ उतरा खौंड़ा देवा-देवी राँ प्यारा,
देशा-दैशा ने शोभला देश कुलूँ राँ प्यारा।

राष्ट्रप्रेम एवं राजनैतिक चेतना के स्वर भी गीतों में व्यक्त हुए हैं। पंजाबी लोकगीतों में चरखे की घूं-घूं से स्वतंत्रता-प्राप्ति की बात कही गई है। भोजपुरी महिलाएँ चरखा कातकर युग-परिवर्तन की बात कर रही हैं–

सखियाँ, सब मिली आवहु हो,
चरखा चलावहु, युग पलटावहु हो।

भक्ति और दैन्य को भी लोकगीतों में आश्रय मिला है। एक अवधी लोकगीत में रेल और मानव-जीवन का रूपक इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है– *'प्रभु ने कैसी रेल बनाई। तन की गाड़ी, मन का इंजन, क्रोध की आग जलाई। पानी रुधिर अपार भरो है; मन का वेग ले जाई, साँस की सीटी बजाई।'*

मध्यप्रदेश के निमाड़ जिले में किसी वृद्ध व्यक्ति या सन्त की मृत्यु पर भजन गाए जाते हैं। लोग झाँझ-मंजीरे बजाते हुए श्मशान तक जाते हैं। इन गीतों को 'मसाणियां नारद गीत' कहते हैं। एक गीत में कहा गया है–

'पिंजरा से पोपट उड़ी गया, अरे, बैठा जमना किनार।
पोपट, थारे कारणे अरे, खासा लगाया बाग,
पढ़ो रे पोपट, श्री राम का।

वस्तुतः लोकगीतों में मानवीय चेतना और सांस्कृतिक मूल्यों के स्वर अर्निनिश गूँजते रहते हैं। पनघट से मरघट तक लोकगीतों की रजनीगंधा पीर फैली हुई है। मानव यदि गा न सकता होता, तो शायद यह विक्षिप्तों की दुनिया होती।

लोकगीतों की तरह **लोककथाओं** का भी अपना सांस्कृतिक वैभव है। कथा सब वाङ्मयों की आद्या है। लोककथाएँ लोकशिक्षण भी करती हैं और लोकरंजन भी। यूरोप के कई लोकसाहित्य-समीक्षकों ने लम्बे अभ्यास के बाद यह स्वीकार किया है कि वहाँ की अनेक लोककथाओं का जन्म भारत में हुआ है। यहाँ की कई पौराणिक कथाएँ, दन्तकथाएँ एवं पशुकथाएँ वहाँ की परिकथाएँ बन गई हैं। प्राकृत-अपभ्रंश की कई नीतिकथाएं लोककथाओं में आकर घुल-मिल गई हैं। 'बृहत्कथा' तो जैसे आधार ही हो गया है यहां की कई लोककथाओं का। हमारी लोककथाओं में परंपरागत चिर-परिचित पात्र होते हैं– अलौकिक वीरता से युक्त नायक, अपूर्व सुन्दरी नायिका, देवी-देवता, दैत्य-जादूगर, विमाता, दुष्ट मंत्री, दैत्यपुत्री, ईर्ष्यालु रानियाँ और वे सभी जिनकी सहायता कथा जन्म ले, बढ़े, फले-फूले, चरमोत्कर्ष पर पहुँचे और अन्त में सुखांत 'खाया पिया और राज किया' या 'खाधूँ-पीधूँ अने मजा करी' पर समाप्त होती हैं। गुजरात में कई लोककथाएं घर-घर चलती हैं, जैसे-चालो ने पूतली आपणे घेर, मन-सागरो, हंसावली, जैमंगला हाथी। हास्य कथाएँ भी खूब हैं जैसे-आनंदी कागलो, अवकचंडी स्त्री, हसता-हसता मां आदि। यहाँ की लोककथाओं में शाक्त वैष्णव, सीदी, सूफी एवं स्वामिनारायण संस्कृति का प्रभाव है। सभी कथाएँ यथार्थ से आदर्श की और जाती हैं तथा अन्त में मानवीय गुणों और सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा करते हुए समाप्त होती हैं।

लोककथाओं की तरह **लोककथा-गीतों** का भी यहाँ फैलाव है। उनमें बैर और प्रेम, पुरस्कार और तिरस्कार, दगा और दिलावरी, युद्ध और मैत्री, हास्य और रुदन सब कुछ है। सोरठी गीतकथाओं के विषय में झवेरचंद मेघाणी ने लिखा है, 'प्रेम और करुणा में समाप्त होना यहाँ के लोककथा-गीतों का मूल है। इस प्रेम को पागल प्रेम या पहाड़ी प्रेम भी कहा जा सकता है।' एक कथागीत की कल्पना कीजिए, जिसमें नेसड़ में रहनेवाली आयर कन्या 'नागमद' सनियाणा शहर में घी बेचने जाती है, बनिए की दुकान पर। साथ में उसकी कई सहियरे हैं। बनिया घी परखकर तोल रहा है। उसी समय बाँका वीर 'नागवाला' घोड़े पर चढ़कर वहाँ से निकलता है। बड़ी प्रशंसा सुनी है उसकी नागमद ने। वह उसे एक टक देखती है। बनिया कह रहा है– बाई, इधर ध्यान रख, तेरे घी की धार नीचे गिर रही है, ताखड़ी में नहीं गिर रही है। लोककथा-गीतकार कह उठता है :

ढोळ्यां जाव रे घी, आजूना उतारणां।
धनवारो धन दि, निरख्योवाळा नागद।।

घी ढुळ रहा है, रूप भी ढूळ रहा है, विवेक भी है। नागवाला ढाल अपने मुँह के आगे कर लेता है। नागमद कहती है 'अरे ढाल तो अलग कर ले। हाथों को हथकड़ी और पावों को बेड़ी पहना सकते हो, लेकिन आँखों का क्या करूं?' यह प्रथम-दृष्टि का प्रेम है, यह पहाड़ी प्रेम है। यह प्रेम लगभग समस्त गीतकथाओं में है। हाँ, यह अलग बात है कि ऐसा पागल प्रेम, प्रेमियों का दुश्मन बन जाता है, लेकिन अन्त में अमर हो जाता है।

रावण हत्था पर कामठी घुमाकर रुणझुण-रुणझुण स्वर में गीत सुनाने वाले, बीच में भाषा और कथा के वैचित्र्य से कथा को लाड़ लडानेवाले चारण, देवीपुत्र, कथक, बजवैये, रावलिये, भाट, ढाढी आदि गीतकथा कहनेवालों की लम्बी परंपरा है। गुजरात में प्रंचलित कथात्मक लोकगीतों में सोढ़ानो संग्राम, भगीरथनो अवतार, मायानु दान, जातिनो अवतार, देवा कोटिला, वीरांगना हड़ीरानी आदि प्रसिद्ध हैं। इन सबमें दो बातें प्रमुख हैं– चतुराई भरा कथातत्त्व और नाट्यात्मक निरूपण। सौराष्ट्र में कथागीतों के पाँच प्रकार हैं– रासड़ा, गरबा, गरबी, पवाड़ा और शलोखा। रासड़ा में सामाजिक जीवन की कथाएँ, भाई बहन का प्यार आदि केन्द्र में

होते हैं। गरबी पुरुष गाते हैं, गरबा स्त्रियां गाती हैं। इन्हें अनुष्ठान-गीत भी कहते हैं जो नवरात्रि में या किसी मंगल पर्व पर गाए जाते हैं नृत्य के साथ। इस प्रकार गरबा-रास गीत प्रकार भी है और नृत्य प्रकार भी है। पवाड़ा दक्षिण गुजरात में अधिक प्रचलित है जो महाराष्ट्र की देन हैं। इनमें ऐतिहासिक पात्रों का जीवन-चरित्र होता है। सूरत जिले में गोपीनायक का पवाड़ा घर-घर गाया जाता है। 17वीं शताब्दी में पवाड़ों के प्रचलित होने की बात इतिहास स्वीकार करता है। शलोखा उत्तर गुजरात की आँजणा जाति में अति प्रचलित है। इसी तरह 'गरबा' शब्द वल्लभ मेवाड़ा के समय से चलता है। 'रासड़ा' के लिए तो यहाँ तक कहा जाता है कि यूरोप का 'बैले' उसी का पाश्चात्य रूप है। अरब में पुत्र के जन्म पर गाए जाने वाले गीतों पर कच्छ के 'गगो' का प्रभाव है। उत्तर भारत के 'सोहर' की तरह 'गगो' में भी वात्सल्य और मातृत्व की मीठी महक है।

'लोकनाट्य विधा में गीत, संगीत, कथा एवं अभिनय-रों का समन्वय होता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यं' की तरह पूरे लोक साहित्य में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण लोकविधा है– लोकनाट्य। राजस्थान, मध्यप्रदेश एवं गुजरात में कई लोकनाट्य शैलियाँ प्रचलित हैं। तुर्रा-कलंगी, ख्याल, तमाशा, रामलीला, रासलीला, भवाई, पंडवानी आदि कई लोकनाट्य प्रकार हैं। तुर्रा-कलंगी में लोककथाओं और पौराणिक कथाओं को गीतात्मक संवादों के माध्यम से खुले चौक में खुले मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। ख्याल पर मराठी लोकनाट्य का प्रभाव है। रामलीला और रासलीला पर पुराणों और लोक परंपराओं का मिश्रित प्रभाव है। भवाई गुजरात का प्रसिद्ध लोकनाट्य है। भवाई यानी स्वांग। 14वीं शताब्दी में गुजरात-स्थित सिद्धपुर में असाइत नामक एक अभिनेता-नर्तक थे, जिन्होंने 360 वेश या स्वांग रचे थे। उनके पुत्र माडण ने जो वेश बनाया था, उसे 'भावन' कहा गया। वहीं से भवाई का प्रारंभ हुआ। उसमें अड़वा और रंगला जैसे पात्रों के माध्यम से सामाजिक विरूपताओं का पर्दाफाश किया जाता है। मनोरंजन और शिक्षण दोनों का निर्वाह करता है भवाई। भवाई खुले मैदान में होते हैं। दशहरा या दीपावली से गांवों में 'भूगल' नामक वाद्य बजने शुरू हो जाते हैं और भवाई करनेवाली मंडलियाँ गाँव-गाँव घूमने लगती हैं। गुजरात के इस लोकनाट्य में रंगमंच की आवश्यकता नहीं पड़ती। तारों भरे आकाश की छाँव में मशाल या पेट्रोमेक्स के प्रकाश के बिना किसी टीमटाम के भवाई हो सकता है। इस लोकनाट्य में नुक्कड़ नाटक के तत्त्व विद्यमान हैं। गीत, संगीत, नृत्य और नाट्य की चाशनी में पगे स्वांगों में गुजरात ही नहीं, पूरे देश के लोक-जीवन की धड़कन सुनाई देती है।

छत्तीसगढ़ और बुंदेलखंड की सीमा पर पंडवानी लोकनाट्य बहुत प्रचलित है। वस्तुतः इसमें गीत, नाट्य एवं कथा का लोकभोग्य रूप रहता है। अपने नामानुसार इसमें महाभारत की पांडव-कथा गद्य और पद्य के मिश्रित चम्पू रूप (पवाड़ा शैली) में लोकनृत्य और लोकसंगीत का सहारा लेकर लोक-रुचि से जोड़ी जाती है। कापालिक शैली में कही जानेवाली यह कथा छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य का बहुत प्राचीन रूप है। वैसे छत्तीसगढ़ में भागवत से लेकर सोरठी ब्रजभाट, लोरिकायन, आल्हा आदि श्रुतिकथाओं की परंपरा है ही, पर पंडवानी की बात ही अलग है। यह मुख्य रूप से प्रभावशाली गायन, आकर्षक वादन, रोमांचकारी व्याख्यान और अवसरानुकूल भाव-प्रदर्शन से जुड़ी है। इस कापालिक गायन शैली को तीजनबाई जिस प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करती हैं, उसे देखकर भारत ही नहीं, अनेक देशों के कला-समीक्षक दंग रह जाते हैं। पंडवानी कथा-शैली की एक और चर्चित गायिका हैं शान्ताबाई चेलक। 13 वर्ष की उम्र से ही यह भारत के विभिन्न अंचलों में पंडवानी के कार्यक्रम प्रस्तुत कर रही हैं। महाभारत के 18 सर्गों की कथा 18 दिन तक चलती है और रोज छह से आठ घण्टे तक लोग दत्तचित्त होकर पंडवानी का आनंद लेते हैं। देवांगन भी प्रतिष्ठित पंडवानी गायक हैं, जिन्हें विशवस्तरीय यश प्राप्त हुआ है।

लोकगीत, लोककथा, लोककथा-गीत एवं लोकनाट्य के अतिरिक्त लोकसाहित्य में अन्य कई विधाओं को भी प्रश्रय मिला है। लोकसंगीत, लोकचित्र, लोकवाद्य एवं लोकमूर्तिकला के भी अपने-अपने आयाम हैं। भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में बननेवाले मिट्टी के बर्तनों, देवी-

देवताओं की मूर्तियों, पछाइयों (पिछ्वाइयों), वस्त्रों आदि में लोक-कला की छाँट मिलती है। लगता है, जैसे मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा जीवित हो गए हों। बलियादेव, शीतला माता, गोत्रजा, चंदरवा, पगला, सन्ध्या, श्रवण आदि की विभिन्न ज्यामितिक आकृतियाँ, अपने-आपमें बहुत कुछ कह जाती हैं। कहावतों और पहेलियों के क्षेत्र में भी लोक साहित्य काफी समृद्ध है। उनमें लोककल्पना, लोकानुभव और सौन्दर्य दृष्टि का समावेश है। अनुभव, समझदारी और परिपक्वता का जब भाषा में प्रवेश होता है तो संक्षेप में अपने विचारों को व्यक्त करने की कला का विकास होता है तब लोकोक्तियों का निर्माण होने लगता है। दृष्टि प्रयोग, कूट-पद एवं श्लिष्ट प्रश्नोत्तर लोक साहित्य को जीवन्त रखते हैं।

लोकसाहित्य की गवेषणा, शोध-खोज, पर्यालोचना एवं संकलन-व्यवस्था की भी लम्बी कहानी है। कर्नल टॉड, फार्बस, टेसिटोरी, वेरियर, एल्विन एवं आर्चर जैसे विदेशी भाषाविदों तथा इतिहासज्ञों ने लोक साहित्य को मिट्टी से उठाकर महलों तक चर्चित कर दिया है। जर्मनी के डॉ. हज और उनकी पत्नी बरड़ा की पहाड़ियों में जाकर मालधारियों के लोक साहित्य पर शोध करते रहे। चिली के डॉ. थोमस पोरबन्दर के आसपास घूमते रहे। डॉ.पाइपर लोक साहित्य के मोटिफ के लिए सौराष्ट्र में घर-घर चक्कर लगाते रहे। गोल्ड स्टेन के विद्यार्थी मिलर पाबूजी की लोककथा के लिए जामनगर के खेड़ गाँव स्थित भोपाओं के बीच रहे। कई भारतीय मनीषियों और शोधार्थियों ने भी लोक-साहित्य की सांस्कृतिक महत्ता को जनता के सामने रखने का भरपूर प्रयत्न किया। गुजरात के कई विद्वानों, चिन्तकों, साहित्यकारों एवं शोध-समीक्षकों ने अपनी आस्मिता इसी कार्य को समर्पित कर दी। झवेरचन्द मेघाणी, दुलाभाई काग, गिजूभाई बधेका, पुष्कर चन्दरवाकर, जयमल परमार, दुलेराय काराणी, मकरंद दवे, शंकरभाई तड़वी, मोहनभाई नायक, मनजीभाई व्यास, अलीभाई रुदात, जोरावरसिंह जादव ऐसे कितने नाम हैं, समर्पित सारस्वतों के और यह सूची हमेशा अधूरी ही रहेगी, क्योंकि लोक साहित्य की तरह लोक साहित्य के अध्येताओं की भी पूरी जानकारी कहाँ मिल पाती है?

यंत्रयुग ने पूरी मानवता को प्रभावित किया है। जीवन के शाश्वत मूल्य धराशायी हो रहे हैं, जब सांस्कृतिक धरोहर को ही नुकसान पहुँच रहा है तो लोक साहित्य अपने-आपको कैसे सुरक्षित रख सकता है? लोकगीतों की मधुरता में कमी आ रही है, लोककथाओं की तन्मयता में विक्षेप पड़ रहा है, लोकनाट्य के तीखेपन को जंग लग रहा है, लोकसंगीत, चित्र, मूर्ति आदि प्रहसन एवं मजाक के साधन रह गए हैं। लोकविश्वास खंडित हो रहा है, जीवन-मूल्य बदल रहे हैं। बेचारा लोक साहित्य इस प्रदूषण को कैसे सहे? रेडियो, टी.वी. एवं सिनेमा-संस्कृति ने औद्योगीकरण तथा भौतिकवाद से हाथ मिलाया है, अतः विश्व के शाश्वत मूल्यों को कष्ट तो सहने पड़ेंगे ही। यह किसी प्रान्त या प्रदेश का प्रश्न नहीं है, यह किसी देश या राष्ट्र का प्रश्न नहीं हैं, यह अन्तरराष्ट्रीय प्रश्न है, वैश्विक प्रश्न है। अब मिश्रित संस्कृति पनप रही है। अब विघटन के महाभारत में केवल कौरव ही नष्ट नहीं होंगे, पांडव भी क्षतिग्रस्त होंगे। राजनीति के अपराधीकरण और बहुरष्ट्रीय कम्पनियों के औद्योगीकरण से लोक साहित्य को बचा पाना कठिन है।

इस वैश्विक प्रश्न की उतना ही महत्त्व मिलना चाहिए, जितना बेकारी, बेरोजगारी, जनसंख्या, प्रदूषण आदि प्रश्नों को मिला है। अर्थ केन्द्रित इस युग में और अनर्थ केन्द्रित आनेवाले युग में हम 'लोक' शब्द को बचा सकें तो इससे अधिक पुण्य-कार्य और क्या होगा? झवेरचन्द मेघाणी के शब्दों में– जिन्हें कसूंबी का रंग लगा है, वे ही सिरफिरे अलमस्त धरती माता के लाल लोक को बचा सकेंगे–

जननीनां हैया मां पोढंता-पोढंता पीधो कंसूबीनो रंग,
भगिनी नां कंठे झरता हालरडां मां घोळ्यो कसुंबीनो रंग,
आओ राज, म्हने लाग्यो कसुंबीनो रंग।

❐❐

562, जनतानगर, चांदखेड़ा,
अहमदाबाद-382424
मो. 9726387967

लोकगीतों के रसिया : देवेंद्र सत्यार्थी

डॉ. शकुंतला कालरा

लोकगीत, लोकसाहित्य का बहुमूल्य व महत्त्वपूर्ण अंग है जिसमें जनमानस का उल्लास और उच्छ्वास समाहित होता है। अंचल विशेष की धरती, समाज से जुड़ी लोकसमूह की मनोकामनाएं, परम्पराएं प्रवृत्तियाँ, उमेंगे, इच्छायें, सपने बड़ी संवेदनशीलता और सुर-ताल में लयबद्ध होकर लोकभाषा में अभिव्यक्ति पाते हैं। लोकसाहित्य मौखिक प्रवाह है। लोकगीतों में सभ्यता और संस्कृति के कई पड़ावों का पता चलता है।

लोकगीतवाला देवेंद्र सत्यार्थी

डॉ. देवेन्द्र सत्यार्थी बचपन से ही लोकगीतों के प्रति आकृष्ट थे और उनमें उन्हें इकट्ठा करने की ललक कोई दैवी प्रेरणा से थी। जो भी पात्र मिलता चाहे बुआई करते और फसल काटते किसान हों, पशु चराते चरवाहे हों, घाट पर कपड़े धोते धोबी हों, कंधे पर बोझा ढोते कहार हों, पनघट पर पानी भरती स्त्रियाँ हों, चक्की चलाती या चरखा कातती युवतियां हों, मछली पकड़ते मछुआरे हों, नाव चलाते मल्लाह हों, इनको अपने श्रम का परिहार लोकगीतों के माध्यम से करते देखा-सुना। यहाँ तक ट्रेन में अंधे भिखारी और जेल में जाकर कैदियों से भी वे लोकगीत सुनते थे। वे गाँव-गाँव जाते। उनकी सरलता और निरभिमानता का ही परिणाम है कि सभी उनके आगे अपना हृदय खोलकर रख देते। लोकगीतों के इस रसिया के आगे स्त्रियाँ भी निःसंकोच होकर गीत सुनातीं और उनसे बतियातीं। लोकगीतों की दुनिया में आना उनका संग्रह और अध्ययन करना सत्यार्थी जी का अद्भुत शौक था। किसी डिग्री की प्राप्ति के लिए वह इस क्षेत्र में प्रवृत्त नहीं हुए। 'धरती गाती है' की भूमिका में वह लिखते हैं- 'आज सोचता हूँ कि कैसे इस लघु जीवन के बीस बरस भारतीय लोकगीतों से अपनी झोली को भरने में बिता दिए, तो चकित रह जाता हूँ। कोई विशेष साधन तो था नहीं सुविधाओं का तो कभी प्रश्न नहीं उठा था। फिर भी एक लगन अवश्य थी- एक धुन। आज सोचकर भी यह कहना कठिन है कि नए-नए स्थान देखने, नए-नए लोगों से मिलने की धुन अधिक थी या वस्तुतः लोकगीत संग्रह करने की धुन। जो भी हो, मैंने निरन्तर लम्बी-लम्बी यात्रायें कीं। कई जनपदों में तो मैं दो-दो, तीन-तीन बार गया।

डॉ. प्रकाश मनु मानते हैं कि सत्यार्थी जी हमारे युग के इतिहास पुरुष हैं जिनके भीतर इस सदी का इतिहास, साहित्य और संस्कृति के बेशुमार खज़ाने भरे पड़े हैं। उनके अनुसार– 'हिन्दी में लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति का तो यह एक साथ 'फकीर' और 'महानायक' है ही, जिसने बीस बरस तक गाँवों की धूलभरी पगडंडियों पर घूम-घूमकर लोकगीत इकट्ठे करते हुए यह मिसाल कायम की कि कोई बड़ा काम कैसे हो सकता है या होना चाहिए। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोकसाहित्य या लोकसंस्कृति पर अपने कालजयी लेख और किताबें लिखते हुए, दूसरों को उपदेश नहीं दिए, बल्कि खुद मजदूर-किसानों के बीच जाकर, उन्हीं के साथ रहते, उन्हीं के साथ

खाते-पीते और बतकही करते हुए, उनकी भाषा सीखी। लोकगीत सुने, उनका मर्म बूझा और जहाँ तक हो सका, उनकी लय और तर्ज भी सीखने की कोशिश की।

अहं या अपनी श्रेष्ठता के दंभ की क्षुद्रभावना उन्हें छू तक नहीं पाई। डॉ. प्रकाश मनु लिखते हैं– 'सत्यार्थी के भीतर एक अद्‌भुत कला है– अपने अहम् को विसर्जित करने की कला। उनसे आप कभी बात कीजिए, वे अपने आप को छोड़कर दुनिया भर की बातें करेंगे, दुनिया भर के लेखकों, कलाकारों, अदीबों और उनकी किताबों और जीवन-प्रसंगों को लेकर चर्चा। खुद को अनायास पीछे रखते हुए, दूसरों की तारीफें, दूसरों की चर्चा, मानो इस दुनिया में रहते हुए भी वे बहुत-कुछ 'मुक्तात्मा' हो चुके हों। इसीलिए उनकी बातों में इतना रस, इतना आनंद है।

तुलसीदास के रामचरितमानस का लेखन स्वान्तःसुखाय कार्य था। उन्हीं की भाँति सत्यार्थी जी के लिए भी लोकगीत-संग्रह का कार्य स्वान्तःसुखाय था। आज़ादी से पहले आल इंडिया रेडियो के निदेशक अहमद शाह बुखारी के आग्रह पर प्रसारण के लिए अपने इकट्ठे किए गए लोकगीतों में से एक हज़ार एक चुनिंदा लोकगीत दिए। उन्होंने यह कहकर उसका पारिश्रमिक लेने से इंकार कर दिया कि इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। यह तो इस धरती के गीत हैं। उनकी निष्कामता देखिए कि उन्होंने अपने गीतों का कॉपीराइट लेने से भी यह कहकर इंकार कर दिया कि इन गीतों की मल्कियत का अधिकार अगर किसी को पहुँचता है तो वह इस देश की धरती को। आन्ध्र की लाल मिट्टी, मध्य भारत की भूरी मिट्टी, बंगाल की सलोनी मिट्टी और कश्मीर की केसरी मिट्टी, मिट्टी के ये रूप केवल देना जानते हैं, किसी से कुछ माँगते नहीं।

लोकगीत हासिल करने के लिए वे इस कोने से उस कोने तक, एक दिशा से दूसरी दिशा तक भटकते रहते और इसी भटकन को ही वह सबसे बड़ा सुख मानते थे। लोकगीतों पर उनकी पुस्तक का नाम– 'मैं हूँ खानाबदोश' इसी आनंद को प्रकट करता है। गुजरात, असम, बंगाल, मध्यभारत, कश्मीर और पंजाब तक घूमे। कन्याकुमारी से कश्मीर तक और श्रीलंका से वीरभूमि और बर्मा तक। वह जहाँ भी गए चुपचाप गए और चुपचाप लौट आए। कहीं अपने नाम और काम का प्रचार नहीं किया। अपनी यात्राओं में वे ज्ञान और चेतना का जो अभूतपूर्व खज़ाना लेकर आए उसके लिए उन्होंने सरकार से किसी प्रकार के यश या धन की चाह नहीं की। यात्राओं में कितने दुःख उठाए पर लोकगीत-संग्रह में जो उन्हें खुशी मिलती, आनंद में जो मस्ती मिलती उसे ही वह अपना ईनाम समझते। लोकगीत-संग्रह में उन्होंने कितने कष्टों का सामना किया, कभी बेटिकट भी यात्रा की। जमशेदपुर में लोहे की चद्दरें उठाने का काम किया। अमृतसर में पत्थर की सिलें पीसीं। कहीं प्रेस में जाकर प्रूफ रीडिंग की, ट्यूशन की, कई प्रकार के छोटे-छोटे काम किए। लेखक ने इन कामों को कभी छोटा नहीं समझा क्योंकि ये काम उनके बड़े उद्देश्य के पूरक साधन के रूप में थे। धीरे-धीरे उनके लेख– 'एशिया', 'विशाल' 'भारत', 'माडर्न रिव्यू' जैसे बड़े-बड़े पत्रों और पत्रिकाओं में छपने लगे जिससे उनको अच्छा पारिश्रमिक मिल जाता था जिससे उनकी गुज़र-बसर हो जाती थी।

मनु जी को दिए अपने इंटरव्यू में वह कहते हैं - 'लोकगीत का मतलब ही है, एक इंसान से दूसरे इंसान को मोहब्बत होना।..... इसी से हर काल में लोकगीतों ने जन्म लिया और मोहब्बत में कहीं यह चलता है कि यह झंझट है, या इसमें फलां-फलां परेशानियाँ हैं। भई ये परेशानियाँ न हों, तो मोहब्बत का आनंद ही क्या रहा। ठीक यही बात मेरी यात्रा के बारे में समझ सकते हैं।' इस विषय में **शमीम हंफी** सत्यार्थी जी से जुड़े अपने संस्मरण में लिखते हैं- 'उसने धूप और धूल से दोस्ती की, मगर उसकी आत्मा उजली रही और उसने यात्रा में जीवन व्यतीत किया, फिर भी उसकी आँखें रोशन रहीं। न तो चेहरा सँवलाया, न पलकों में कालिख जमीं.....। एक साधारण अनुमान के अनुसार उसने ढाई से पांच लाख तक लोकगीतों का संग्रह किया। लेकिन इस सम्पूर्ण प्रयास और संघर्षमयी तपस्या की उपलब्धि क्या है? यात्रा निरंतर यात्रा।....' थकान होती ही क्यों? लोगों ने उन्हें भरपूर प्यार/सम्मान दिया। उनसे मिले आतिथ्य सुख के विषय में वह मनु जी को बताते हैं -

‘आप देखिए मेरी इस लोकयात्रा में इतने अजनबी लोगों का हाथ है, इतने लोगों ने मुझे मदद दी कि मैं उनसे कभी उऋण हो ही नहीं सकता।... न जाने किन-किन अजनबी लोगों के घर रुककर मैंने आतिथ्य-सुख पाया।...’ अपने इसी संस्मरण में सत्यार्थी की कार्य-पद्धति की तुलना उस संगीतकार से की है जो बरसों की साधना को भी एक स्वर अथवा एक लय की खोज के लिए काफी नहीं समझता और अपने आपको सिद्धहस्त बनाने में आजीवन जुटा रहता है। ऐसा न होता तो वह स्वयं पर कब का संतुष्ट हो चुका होता और महानता और श्रेष्ठता का चोला पहने किसी कोने में जमकर बैठ गया होता। उनकी सादगी और दाढ़ीवाले जोगिया बाने ने उनकी इस कार्य में बड़ी सहायता की। वे जहाँ भी जाते बिना टिकट रेल का सफर आसान हो जाता और गाँवों के निश्छल स्त्री-पुरुष उनकी साधुता, निश्छलता पर रीझकर अपने गीतों का खज़ाना उन पर लुटा देते।

पंडित **रामनरेश त्रिपाठी** उनकी कठिन यात्राओं और लगन को प्रणाम करते हुए उन्हें पत्र में लिखते हैं-- ‘ग्रामगीतों के संबंध में जिस मार्ग पर चलने की इच्छा मैं वर्षों से कर रहा था उसे तो आपने नाप डाला। गीत संबंधी मेरी लालसा अवश्य मिट गई, पर घूमने की लालसा तो बढ़ती ही जा रही है।..... आपका साहस धन्य है। आपकी सच्ची लगन इतिहास की वस्तु हो गई है। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।....’ लोकगीतों के संग्रहकर्ता के रूप में उनके अनुदान को त्रिपाठी जी ने कितने आदर के साथ स्वीकार किया है- ‘मैंने 1925 को गीत-संग्रह का कार्यक्रम आरंभ किया था। उस लोहे जैसे नगण्य पदार्थ को आपने छूकर सोने का बना दिया।..... इतने बड़े देश में हजारों संग्रहकर्ताओं के उठ खड़े होने से मेरी ललक अब बुझ गई। हजारों तारे चाहे उठें चाहे न उठें, एक चंद्रमा का उदय काफी है।..... इस क्षेत्र में आप पहले और आप ही अंतिम होंगे। इतना परिश्रम कौन करेगा।’

दूसरों की प्रतिक्रियाएं, टिप्पणियों से नितांत अप्रभावित सत्यार्थी जी बस अर्जुन की तरह अपनी मंजिल पर आँखें गड़ाए टेढ़े-मेढ़े/पथरीले/कंटीले रास्तों पर चलते रहे, चलते रहे। यही उनके जीने का ढंग बन गया। ‘बुंदेलखंड मूक नहीं’ निबंध में वह अपनी इस यात्रा के अनुभवों को पाठकों के साथ साझा करते हुए बताते हैं कि इस यात्रा के कठिन मार्ग पर वह अकेले ही नहीं उनकी पत्नी और नन्हीं कविता भी साथ-साथ रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त के पास से लौटते हुए वह पांडोरी ग्राम के लिए जब निकले तो रास्ते में एक नदी पड़ती थी। सत्यार्थी जी कविता को गोद में लिए पानी में चले जा रहे हैं और पीछे-पीछे पत्नी चली आ रही है जो इतना ही कहती है- ‘आपके ग्रामगीत धन्य हैं और आप भी। आपके साथ पता नहीं न जाने ऐसी कितनी नदियाँ लांघनी होंगी।’ इस बात पर सत्यार्थी जी उनसे कहते हैं– ‘मेरी मेहनत के 70 प्रतिशत फीसदी पुण्य का श्रेय तो तुम्हारा है। तुम मेरा साथ न देतीं तो कदाचित् मैं हार चुका होता.....।’

लोकगीतों के अन्वेषण में सत्यार्थी जी के अपूर्व योगदान रेखांकित करते हुए **रमेश तैलंग** अपने आलेख ‘लोकगीतों की खोज में एक खानाबदोश’ में लिखते हैं-- ‘लोकसाहित्य के अन्वेषण में देवेन्द्र सत्यार्थी की देन ‘न भूतो न भविष्यति’ की तरह है। यह विशेषण मेरा नहीं, डॉ. नामवर सिंह का है जो उन्होंने सत्यार्थी जी की षष्ठि पूर्ति के अवसर पर प्रयुक्त किया था।’

गाँधी जी भी सत्यार्थी के लोकगीत सम्बंधी कार्यों के प्रशंसक रहे। वे लिखते हैं– ‘कहाँ-कहाँ के लोकगीत चुने हैं। सभी गीत एक पुस्तक में कैसे समा सकते हैं? मूल संग्रह को सँभाल कर तो रखते हो न? पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख लोकगीत संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए। आने वाली पीढ़ियाँ कवि हृदय रखने वाले लेखक का स्मरण करेंगी, जिसने धरती के गीतों की अपनी झोली साहित्य के सम्मुख रख दी।.... ‘धरती गाती है’ अच्छा काम है। इसमें कवि हृदय बोल उठा है। सचमुच लोकगीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियाँ गाती हैं, फसलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएं और परम्पराएं सभी गाती हैं।’ गाँधी जी इसकी भूमिका लिखना चाहते थे। उपर्युक्त पत्र 29 जनवरी, 1948 को लिखा गया था और 30 जनवरी को गाँधी जी की हत्या हो गई, भूमिका नहीं लिखी जा सकी।

सत्यार्थी जी द्वारा लोकगीतों के संग्रह के कार्य पर **आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेद्वी** इतने मुग्ध थे कि उन्होंने लोकभाषा भोजपुरी में सत्यार्थी जी को पत्र लिखा। इसमें सत्यार्थी जी के गुणों की प्रशंसा करते हुए अंत में लिखा कि अरे सत्यार्थी भइया अमृत के मार्ग पर कोई नहीं गया। तुम्हारे अकेले का यह मार्ग है। गीत इस प्रकार है- कि सतार्थी भइया रे।...केहू नाहीं गइलें अमृतवा की डगरी- सतार्थी भइया रे। तोरी डगरी अकेले के सतार्थी भइया रे।

लोकगीतों में जो कार्य सत्यार्थी जी ने किया वह अभूतपूर्व था। इस कार्य की अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की किंतु सत्यार्थी जी ने इस कार्य में अपने शुभचिंतक, उत्प्रेरक और सहयोगियों को यश ही दिया और उन्हें बड़े आदर के साथ याद किया। यादों के काफिले में उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। ऐसे कुछ नाम हैं– रवीन्द्र नाथ ठाकुर, बापू, राहुल सांस्कृत्यायन, महाश्वेता देवी, अज्ञेय, जैनेन्द्र वल्लातोल, बनारसीदास चतुर्वेदी, भाई वीरसिंह, अमृता प्रीतम, बलराज साहनी, यमिनी राय, मास्टर मोशाय। गुजराती के मूर्धन्य साहित्यकार झवरेचंद मेघाणी के अतिरिक्त ग्राम साहित्य के विख्यात अनुसंधानक रामनरेश त्रिपाठी, वासुदेव शरण अग्रवाल आदि के प्रति भी आभार प्रकट किया है।

वासुदेव शरण अग्रवाल ने उन्हें 'जनपदीय जगत का सच्चा प्रतिनिधि' कहा। उनकी दृष्टि में सत्यार्थी जी वह रथ हैं जो भारत माता की वंदना करता हुआ एक-एक कोना घूम आया है - 'शहर के द्वारा गाँव को समझने का जो प्रयत्न है, देवेन्द्र सत्यार्थी उसके प्रतीक हैं। बेरोकटोक बहने वाले पवन की तरह वह पैशाची भाषा के भू-भाग कश्मीर से आन्ध्र प्रदेश व सिंहल तक एवं आसाम से सिंध तक घूमे-फिरे हैं। वह जनपदीय जगत् के सच्चे चक्रवर्ती हैं। उनके रथ का पहिया अपनी उँची ध्वजा से भारतमाता की वंदना करते हुआ सब जगह फिर आया है।'

लोकसाहित्य-प्रेमी **झवेरचंद मेघाणी** के भाव-भीने उद्‌गार देखिए– कई बार आपकी रचनाएँ मुझे लगता है कि, मैं या मेरे प्रिय विषय जो कि लोकसाहित्य है– के लिए आपकी तरह खानाबदोश बनकर जगह-जगह घूमता फिरूँ। पर अनेक प्रकार के बंधनों में फँसा हुआ मैं निकल ही नहीं पाता और तब मालूम होता है कि एक बार पूरी ताकत लगाकर निकल जाने से ही निकला जा सकता है। लेकिन जब मैं आपकी तरह निकल ही नहीं सकता, तब आप यह काम कर रहे हैं। इससे आश्वासन ले लेता हूँ कि मैंने नहीं तो आपने तो काम किया है- कर रहे हैं।'

नृतत्व शास्त्री **डॉ. श्यामचरण दुबे** ने भी उनके लोकगीतों के क्षेत्र में हुए अभूतपूर्व कार्य को पहचाना और पत्रों द्वारा उनके कार्य की प्रशंसा भी समय पर करते रहे। वह अपनी पुस्तक इंडियन विलेज की भूमिका सत्यार्थी जी से लिखवाना चाहते थे। उन्होंने काफी आग्रह किया किंतु सत्यार्थी जी की सरलता और निरभिमानता देखिए कि उन्होंने विनम्रतापूर्वक यह कहकर इंकार कर दिया कि वह लोकसाहित्य के एकेडमिक विद्वान नहीं। इस कार्य को वह किसी योग्य पात्र से करवाएं।

डॉ. प्रभाकर माचवे ने उनके लोकसाहित्य के काम को एक बड़ा आंदोलन तक कहा– 'देवेन्द्र सत्यार्थी के लोकसाहित्य के काम ने देखते-ही-देखते कैसे एक आन्दोलन का रूप ले लिया। 'लेखक गांवों में जाएं' की प्रेरणा से भारतीय भाषाओं के बहुतेरे लेखक लोकसाहित्य के अध्ययन और संग्रह के लिए गांवों की ओर निकल पड़े।' डॉ. प्रभाकर माचवे का मानना है कि अकेले सत्यार्थी ने सैंकड़ों साहित्य प्राध्यापकों से अधिक मूल्यवान काम किया है।

कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन में जब गाँधी जी को सत्यार्थी जी ने एक पंजाबी लोकगीत सुनाया– 'रब्ब मोया, देवते भज्ज गए राज फिरंगी दा' तो गाँधी जी के मुख से अनायास ये शब्द निकले - 'एक पलड़े में मेरे और जवाहरलाल के सारे भाषण कर दिए जाएं तो दूसरे में अकेला यह लोकगीत तो लोकगीत वाला पलड़ा भारी रहेगा।.....' सत्यार्थी जी के पास ऐसे अनेक गीत थे जिनमें गुलामी का दर्द था और आज़ादी के सपने पल रहे थे। सत्यार्थी जी ने ऐसे अनेक गीत एकत्र किए जिनका संबंध देश की आज़ादी से था, क्रांतिकारी देशभक्तों से था। उन गीतों में गाँधी, जवाहर, पटेल हैं। सत्यार्थी जी ने टीकमगढ़ के राजा को अपना सबसे प्रिय और अच्छा लगने वाला गीत सुनाया तो वह मुग्ध हो गए, उन्होंने

पूछा कि इतना सुन्दर लोकगीत तुम्हें कहाँ से मिला तो सत्यार्थी जी ने कहा कि यदि आप उस स्त्री को जेल से मुक्त करने का वादा करें तो मैं उसका नाम बता सकता हूँ। सत्यार्थी जी के नाम बताने पर उन्होंने 'हल्की' नाम की उस स्त्री को मुक्त कर दिया। यह थी लोकगीतों की ताकत, उसकी विजय। इस पर बाद में सत्यार्थी जी ने 'लोकगीत की विजय' शीर्षक से कहानी भी लिखी।

देवेन्द्र सत्यार्थी जी लोकगीतों को जनमानस की ताकत आशाओं-आकांक्षाओं, इच्छाओं और सपनों की ताकत मानते थे, वे लोकमानस की आत्मा हैं। मनु जी को दिए अपने इंटरव्यू में वह कहते हैं– 'मैंने एकदम शुरू में ही समझ लिया था कि लोकगीतों का एक उद्देश्य मनोरंजन तो है, लेकिन लोकगीत सिर्फ मनोरंजन के लिए ही नहीं हैं, इनके पीछे विराट जनता के सुख-दुःख, सपनों और आकांक्षाओं की एक बड़ी ताकत है। यह ताकत अगर निकल जाए, तो लोकगीत भी एक सजावटी चीज़ बनकर रह जाएंगे। जैसे शहराती ड्राइंगरूमों में रखे हुए कागज़ के फूल।'

डॉ. सत्यार्थी के कृतित्व और व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए भाषाविज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान **डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी** ने उन्हें 'संस्कृति-दूत' कहा– 'सत्यार्थी जी आदि से अंत तक एक चिंतनशील और अग्रगामी संस्कृतिदूत के रूप में सदैव हमारी भाषाओं की रंगभूमि पर खड़े रहेंगे।...' 'लोकगीत' नाम के पीछे भी एक दिलचस्प घटना है। अपनी लोकयात्राओं के दौरान सत्यार्थी जी की भेंट डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी से हुई। वे सत्यार्थी जी के काम के प्रशंसक थे और रुचि भी रखते थे। दोनों में हुई एक खुली चर्चा के बाद सुनीति कुमार जी ने इस नाम का सुझाव दिया। यह नाम पहले झबेरचंद मेघाणी जी ने दिया था जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तक 'लोकसाहित्य' से प्रेरित होकर 'फोक सांग्स' के लिए लोकगीत शब्द का प्रयोग किया। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी को यह नाम अच्छा लगा। हालांकि इसके लिए सत्यार्थी जी से काफी विचार-विमर्श भी हुआ। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने कहा कि 'लोकगीत' नाम हिंदी ही नहीं, पंजाबी और उर्दू में भी चल सकता है किंतु बांग्ला में फोक सांग्स को 'पल्ली गीत' कहा जा रहा है। ये हमारी भाषाओं की सीमाएं हैं कि हम अपने बंधनों को तोड़ नहीं पा रहे। सत्यार्थी जी ने कहा कि अब वे हिंदी में फोक सांग्स के लिए 'लोकगीत' शब्द का प्रयोग करेंगे, 'ग्रामगीत' का नहीं, जो अब तक प्रचलन में था। बांग्ला में आप चलाइए लोकगीत। इस तरह तीनों भाषाओं में लोकगीत शब्द का प्रचलन चल पड़ा। इसी तरह 'फोकलोर' शब्द को लेकर भी डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ. सत्यार्थी में विषद चर्चा हुई। फोकलोर के लिए तीन शब्द प्रचलित थे- लोकवार्ता, जनपद और तीसरा बहुप्रचलित शब्द था लोकसाहित्य। उन्होंने इन तीनों नामों को छोड़कर 'फोकलोर' के लिए एक नया शब्द दिया 'लोकयान'। उसी दिन से सत्यार्थी जी ने भी 'लोकयान' शब्द का प्रयोग शुरू कर दिया लेकिन हिंदी में यह शब्द अपेक्षाकृत कम प्रयुक्तहोता है। पंजाबी में 'लोकयान' का प्रयोग होने लगा।

किशोर कुमार कौशल सत्यार्थी जी के लिए विविध विशेषणों का प्रयोग करते हुए उन्हें 'लोकऋषि' कहते हैं- ' सत्यार्थी जी घुमक्कड़-फक्कड़, गाँवों की पगडंडियों पर घूमते फकीर, लोकयात्री, लोकगीत-संग्रहक, साहित्यकार, बहुभाषाविद् होने के साथ-साथ सरल-मिलनसार एवं निराभिमानी व्यक्ति हैं। कुछ ही पलों में वह सबके हो जाते हैं। मुझे तो वह लोक-ऋषि लगते हैं। पहले ऋषि वनों में अपने आश्रमों में रहते थे और समाज से प्राय: कटे रहते थे, किंतु सत्यार्थी जी ने सारा जीवन देशभर में घूम-घूमकर बिताया है। आम और खास से मुलाकात की है।... कौशल जी आगे अपने आलेख में लिखते हैं- इस विषय पर बहुत से कवियों एवं विदेशी विद्वानों ने कार्य किया है, किंतु सत्यार्थी जी का कार्य परिमाण एवं गुणवत्ता में सर्वाधिक है। वे तो जैसे लोकगीतों की पूरी भावभूमि एवं आत्मा तक का रेशा-रेशा जानते हैं।... लगता है सत्यार्थी जी ने लोकगीतों को खूब सुना है, समझा है, परखा है, तभी अपनी मंजूषा में रखा है। अन्यथा **राजगोपालाचारी** यूँ ही न कह देते- 'यदि यूनिवर्सिटी का कोई प्रोफेसर यह कार्य करता तो लोकगीतों का रस सूख जाता'। (ओ री बाँस की पत्ती पर सोती शबनम को सुखाते सूर्य भगवान)।'

देवेन्द्र सत्यार्थी जी के समग्र कार्य के गंभीर

अध्येता डॉ. प्रकाश मनु ने उनकी साधना से अभिभूत होकर उन्हें 'लोकगीतों के दरवेश' कहा जो 19 वर्ष की अवस्था में कॉलेज की पढ़ाई अधबीच छोड़कर घुमक्कड़ी के लिए निकल पड़े। वे लिखते हैं– 'देवेन्द्र सत्यार्थी जी लोकसाहित्य के दरवेश हैं जिन्होंने दशकों पहले लोकगीतों की खोज में महादेश का चप्पा-चप्पा छान मारा था। लोकगीतों में उन्हें धरती का सच्चा दर्द और आवाज़ सुनाई पड़ती थीं। साथ ही भारतीय जनता का सच्चा रस-उल्लास आनंद-उत्सव, रीति-रिवाज़ लोक-परंपराएँ, राग-विराग और सुख-दुःख की वे अनकही बातें भी, जो हज़ारों हृदयों में ढलकर हवा में गूँज उठती थीं।'

मध्य प्रदेश की करमा जाति के गीतों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि– 'यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानना चाहो तो मेरे गीतों को सुनो...' सत्यार्थी जी ने भी लोकगीतों में लोकजीवन के अकृत्रिम और सहज आंतरिक सौन्दर्य को श्रवण इन्द्रिय के माध्यम से सुना और हृदय से महसूस किया। वह इस मार्ग पर चलते रहे बस चलते रहे एक अजनबी किंतु मधुर लोकगंध के पीछे दीवानगी की हद तक। मनुजी लिखते हैं– 'सत्यार्थी जी ने लोकगीत-संग्रह की अपनी अनोखी शानदार धुन के कारण बिना किसी संस्था या सरकारी मदद के, अकेले अपने बूते जो काम कर दिखाया, वह खुद में इतना बड़ा और कालजयी है।... उन्होंने अपनी उम्र का एक बड़ा भाग गाँव-गाँव, शहर-शहर भटककर लोकगीत एकत्र करने में लगाया। जहाँ भी कोई अच्छा लोकगीत सुनने को मिलता, वे बैठकर कॉपी में उसे लिखने लग जाते थे। फिर भाषा की कठिनाई आई, तो पूछ-पूछ कर उसका अर्थ भी लिख लेते। कॉपियां भरती गई, पर अच्छे लोकगीतों के संग्रह की उनकी प्यास कम होने की बजाय और बढ़ी। उसका कोई अंत ही नहीं था।... कहीं कुछ खाने को मिला तो खा लिया, नहीं तो भूखे ही सो गए।

सत्यार्थी जी के ये गीत सीधी-सादी अनपढ़ जनता के गीत मात्र नहीं हैं। ये इस देश की महान संस्कृति के वाहक हैं। इस विषय में प्रकाश मनु लिखते हैं – ये (गीत) इस देश की महान संस्कृति और हज़ारों वर्ष पुरानी लोक परंपराओं के वाहक भी थे, जिनसे इस देश की कोटि-कोटि जनता के मन और आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता था। अलग-अलग बोलियाँ और भाषा बोलने वाले जनपद और ग्रामांचलों के ये लोकगीत मिलकर एक ऐसा सांझा पुल बनाते थे, जिसे समझे बिना इस महान देश की हज़ारों वर्ष पुरानी सम्यता और संस्कृति को समझना असंभव था.....।

जब वे शांतिनिकेतन जाते हैं तो वहाँ गुरुदेव बड़े प्रसन्न भाव से उनका स्वागत करते हैं क्योंकि यही काम वह स्वयं करना चाहते थे। बांग्ला के पल्ली गीतों (लोकगीतों) को एकत्र करने की उनकी योजना थी जिसे वे पूरी न कर सके। वे उन्हें कहते हैं– मुझे खुशी है, जो काम मैं नहीं कर पाया, उसे आप पूरा कर रहे हैं। वह सत्यार्थी जी को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं– तुम जिस पथ के पथिक बनते जा रहे हो, वह बहुत लंबा है पर जब एक बार तय कर लिया चलना तो फिर पीछे काहे को हटना...।

सत्यार्थी जी के रथ का पहिया घूमता-घूमता एक बार देहरादून पहुँचा, जहाँ उनकी मुलाकात महामना मदनमोहन मालवीय जी से हुई। मालवीय जी उनसे प्रेम से मिले। धूल-धूसरित पैरों को देखकर बहुत दुःखी हुए और उन्हें अपने हाथ से मोजे पहनाने लगे। सत्यार्थी जी संकोच में भर उठे। कहा कि आप तो मेरे पिता समान हैं तो मालवीय जी ने कहा– 'तो क्या एक पिता अपने पुत्र को मोजे नहीं पहना सकता।' उनका संकोच देखकर उन्होंने बेटे को मौजे पहनाने के लिए कहा। सत्यार्थी जी सबके प्रति कृतज्ञता-भाव से भरे कहते हैं– उस समय यह इतना बड़ा काम हाथ में लिया था तो इसलिए कि इतने बड़े-बड़ों का आशीर्वाद मेरे साथ था। यह सब न होता तो क्या अपना काम पूरा कर पाता। शायद कहीं बीच राह में थककर या टूटकर बैठ जाता।

प्रकाश मनु को दिए अपने इंटरव्यू में वह कहते हैं कि– 'मेरे सामने तो वही कलकत्ता, वही शांतिनिकेतन अब भी घूमता है। मैं तो उसे अपनी लोकगाथाओं की गंगोत्री ही मानता हूँ। काशी, त्रिवेन्द्रम, मद्रास, बरहमपुरगंजम.... क्या कुछ नहीं। इस यात्रा के इतने अनेक पड़ाव थे कि उस सबका जिक्र ही नहीं हो सकता और फिर राह में जो-जो लोग मिले और जिन्होंने अपनी

इस अकूत संपदा को मुझ फकीर की झोली में डाल दिया।.... उन सबकी सूरतें... हर सूरत एक पड़ाव है।.... वे धूल भरी पगडंडियाँ जैसे अब भी हाथ बढ़ा-बढ़ाकर बुला रही हों। तो फिर यह यात्रा खत्म कैसे हो गई? तन थक गया है लेकिन मन तो अब भी यात्रा में है।....'

सत्यार्थी जी ने लोकगीतों के संग्रह हेतु जो लोकयात्रायें कीं उन्हें अपनी इस यात्रा में अनगिनत गीत मिले जो विविध रूप-रंग और भाव-सम्पन्न हैं। वे कहीं भी सफर में हों उनकी लक्ष्य-भेदी दृष्टि सदा लोकगीतों पर होती। कहीं किसी से भी यह संपदा मिल जाए। सत्यार्थी जी जब पहली बार घर से निकले तो रेलगाड़ी में एक अंधे भिखारी से एक लोकगीत सुना और उसे डायरी में नोट कर लिया। वह गीत इस प्रकार था– हिन्दी कहण एह मुल्क असांदा, असी मन्नीए न कोई धिंगाणा/ मुस्लिम कहण एह मुल्क असांदा, सानूं मिलिया हुक्म शाहाना/ सिक्ख कहण एह मुल्क असांदा, सानूं मिलिया हुक्म रब्बाना/ बांका यार फिरंगी पिया मुड़-मुड़ आखे, कोई हत्थ लावे तां जाणां।

सत्यार्थीजी के लोक निबन्ध

यह तो थी शुरुआत। आगे चलकर तो यात्राओं का जो क्रम चला वह निरंतर बढ़ता ही गया। जहाँ-जहाँ गए उस अंचल की संस्कृति पर अनेक गवेषणात्मक लेख लिखे। इन गीतों को उन्होंने अपने उन आलेखों में या कहें कि निबंधों में संकलित किया है। डॉ. प्रकाश मनु ने उनके निबंधों का एक संकलन तैयार किया जो नेशनल बुक ट्रस्ट, भारत से 'देवेन्द्र सत्यार्थी : लोक निबंध' शीर्षक से सन् 2014 में प्रकाशित हुआ। इसकी लम्बी भूमिका में प्रकाश मनु ने देवेन्द्र सत्यार्थी जी के लोकगीतों पर बड़े विस्तार से चर्चा की है और समय-समय पर लिखे उनके लोक-निबंधों को विभिन्न शीर्षकों में दिया है। 'ब्रज-भारती' शीर्षक निबंध में सत्यार्थी जी ने लोकवार्ता के लिए कहा है कि यह केवल अतीत की वस्तु नहीं। अब तक की समस्त बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक और सामाजिक गतिविधि का संपूर्ण इतिहास इसमें निहित है। इसके बिना देश के वास्तविक इतिहास का निर्माण असंभव है। सत्यार्थी जी का मानना है कि ब्रज के लोकगीतों में भावों की गहराई भी है और संगीत का माधुर्य भी। अपनी ब्रज की लोकगीत यात्रा में उन्होंने विविध विषयों के अनेक लोकगीत एकत्रित किए। ब्रज के लोकगीत ब्रज की आत्मा है।

भारत जैसी सांस्कृतिक विविधताओं वाले राष्ट्र में लोकमानस की थाह पाना बड़ा ही कठिन है। सत्यार्थी जी ने महसूस किया कि प्रत्येक अंचल के लोकसाहित्य में क्षेत्रीय बोली और स्थानीय परिस्थितियों के कारण, बाह्य प्रकृति में भिन्नता हो सकती है किंतु अन्तर्प्रवृत्ति एक है। संवेदना एक है। रागात्मक अनुभूति एक है। सत्यार्थी जी ने विविध रंग-रू प के विविध भावों के विविध रसों के एक से बढ़कर एक सुन्दर, सार्थक, भावपूर्ण और मार्मिक गीतों का संचयन किया। संस्कारों के गीत, पर्व-त्योहारों के गीत, जातीय गीत, पारंपरिक विषयों के साथ ज्वलंत समस्याओं पर केन्द्रित गीत भी उनके भंडार की श्रीवृद्धि करते हैं। हर गीत उस अंचल विशेष की प्रकृति, लोक-संस्कृति को दर्शाता है। यह अपने समय का ऐतिहासिक दस्तावेज़ प्रस्तुत करता है।

'राम-वनवास के उड़िया गीत' निबंध में सत्यार्थी जी ने राम की गाथा और उनके वनवास को चित्रित करने वाले अनेक लोकगीत दिए हैं। इन्ही गीतों में राम के शैशव का भी वर्णन है। बचपन में एक बार राम ने हल को हाथ लगा दिया तो पृथ्वी के नौ खंड हिलने लग गए– *पिल्ला टी दिनू राम घांईले नंगल/ नव खंड पृथि होईछी टलूमलू/ आकास कु घटिअछि जलू...हलिया हे...!* 'बेला फूले आधी रात' शीर्षक के निबंध में राम वनवास के उड़िया लोकगीतों के विषय में सत्यार्थी जी लिखते हैं - ये लोकगीत भारतीय लोकसाहित्य में विशेष महत्त्व रखते हैं। उड़िया भाषा की माधुरी और उत्कल प्रांत के स्वप्नों ने मिलकर ऐसे सुंदर काव्य की सृष्टि की है जिस पर कोई भी भाषा गर्व कर सकती है।

पंजाब प्रांत के भी अनेक लोकगीतों का सत्यार्थी जी ने संकलन किया है। विशेष रूप से वियोग के गीत उन्हें बेहद पसंद थे। एक वियोग गीत देखिए जिसे सत्यार्थी जी ने अपने विवाह के बाद ससुराल में अपनी पत्नी सुशीला को कुछ सखियों के साथ गाते सुना था- *दीवा बले सारी रात, मेरया जाल्मा/ दीवा बले सारी रात/बत्तियां बटा रखदी, मेरया जाल्मा/ दीवा बले सारी*

रात। / आवेंगा तां पुच्छ लवांगी, मेरया जाल्मा/ कित्थे गुजारी सारी रात।.... एक दूसरा लोकगीत देखिए जो रण में जाने वाले पति को संबोधित करती हुई गाती है। सरल हृदय के सरल और कोमल भावों की अभिव्यक्ति देखिए– *जे उठ चल्लियों चाकरी, / नीले घोड़े वालिया! / सानूं बोजे पा।/ जित्थे ते आवे रातड़ी /नीले घोड़े वालिया!/ कड्ड कलेजड़े ला।*

गढ़वाल की सुंदरता, सरसता ने सत्यार्थी जी को मोह लिया। उन्होंने वहाँ के अनेक गीत जैसे मांगले, झुमैलो, बसंती, चैमासा, जागर, बारामासी आदि को एकत्रित किया। 'बेला फूले आधी रात' नामक निबंध में सत्यार्थी जी ने बेला के आधी रात को खिलने और चमेली के सवेरे खिलने के बारे में बताया है। जिनके विषय में लोकगीत की यह पंक्ति उद्धृत की है– 'बेला फूले आधी रात, चमेली भिनसरिया हो।' बेला ग्रीष्म ऋतु का फूल है। दिन में जितनी अधिक गर्मी पड़ती है रात को उतनी ही शान से बेला खिलता है। बेला के फूलों का लोकगीतों में बहुत वर्णन मिलता है।

'बुंदेलखंड मूक नहीं' नामक निबंध में सत्यार्थी जी लोकगीतों के उत्स के विषय में लिखते हैं– कहाँ से आते हैं इतने गीत लोक-जीवन में? कुछ पागल काले बादलों से, बस बरसने को तैयार, कुछ इन्द्रधनुष से, सूर्योदय-से लाल-लाल, या फिर सूर्यास्त की रक्त रश्मियों से, बढ़ते अंधेरे का अंचल छूते, गाय के दूधिया मिष्ट श्वास से, उगते गेहूँ से, धान से या फिर किसी भी अनाज से, फसल काटते मस्त कृषक के दिल से, घास छीलती नारी की चुनरी से अस्त-व्यस्त, स्मरण-विस्मरण की आंख-मिचौनी से। जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत। कल्पना भी करती है अपना काम, रस-वृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी। पर ये सब हैं खाद। जीवन के सुख, जीवन के दुःख ये हैं लोकगीत के बीज। लोकगीत हृदय के खेत में उगते हैं। सुख के गीत उमंग के जोर से जन्म लेते हैं। और दुःख के गीत तो खौलते लहू से पनपते हैं और आंसुओं के साथी बनते हैं।'

सत्यार्थी जी सन् 1931 में **मैथिलीशरण गुप्त जी** के घर पर चिरगाँव में उनके आतिथ्य में रहे जहाँ उन्हें कविवर के साथ सियारामशरण गुप्त जी का साथ तो मिला ही मुंशी अजमेरीजी का भी मैत्रीपूर्ण सान्निध्य मिला था और अजमेरी जी ने उन्हें अनेक लोकगीत सुनाए थे किंतु पांच-छः वर्ष बाद जब पुनः पत्नी और पुत्री के साथ वह वहाँ गए तो उन्हें अजमेरी जी नहीं मिले। लेकिन अजमेरी जी की अनुपस्थिति में भी उनका निम्न प्रिय गीत उन्हें अजमेरी जी की उपस्थिति का अहसास करा रहा था–

गाड़ी वारे मसक दै बैल/अबै पुरबइया के बादर उन आए! कौना बदरिया उनई, रसिया?/कौना बरस गए मेय? अबै पुरबइया के बादर उन आए।.....

अर्थात् *अजी ओ गाड़ीवान, बैलों को हांक दो जरा,/पुरवाई के बाद उमड़ आए हैं रे! कौन-सी बदरिया उमड़ी है, अजी ओ रसिया?/कौन-सा मेघ बरस पड़ा? पुरवाई के बादल उमड़ आए हैं रे!.....*

इसी निबंध में उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त को एक लोकगीत सुनाया जो उन्होंने पहाड़ी ग्राम में सेतू लाल छतरी से सुना था। जो एक अत्यंत मार्मिक लोकगीत है जिसमें एक कन्या अपने प्रियत्तम से कहती है कि वह उसे नज़र भरकर देखे–

नज़र भर हेरत काय नइयां/ हम तौ राजा पिया बन की हिरनिया/ तुम ठाकुर के लरका।

तुपक तीर मारत काय नाइयां,/ नजर भर हेरत काय नइयां,/ हम तौ राजा पिया जल की मछरिया

तुम धीमर के लरका। झमक जाल डारत काय नइयां/ नजर भर हेरत काय नइयां।

अर्थात् नजर भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं? ओ प्रियतम! ओ राजा! मैं तो बन की हरिनी हूँ और तुम हो ठाकुर के लड़के। अपनी बंदूक या तीर मुझ पर क्यों नहीं छोड़ते? नजर भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं? ओ प्रियतम! ओ राजा! मैं तो जल की मछली हूँ और तुम हो धीवर के लड़के, फेंकते क्यों नहीं झट अपना जाल? नजर भरकर तुम मुझे देखते क्यों नहीं?

देवेन्द्र सत्यार्थी जी द्वारा संगृहीत एक लोकगीत में अंग्रेजों के समय किसानों की गरीबी, विवशता का एक चित्र देखिए जहाँ सब कुछ महंगा बिक रहा है, सिवाय किसान के द्वारा उपजाई गेहूँ के। गेहूँ इतनी सस्ती बिकती है कि किसान को उसकी मेहनत की कीमत तक प्राप्त

नहीं होती जिससे वह अपना गुज़र-बसर कर सके। यह गीत उन्होंने एक मिरासी युवक से प्राप्त किया। जिसके बोल थे–

पोता लाग रहा, महाराज,/ जुनरिया हो गई मन भर की/ मुनसी आए, पटवारी आए,/आए तैसीलदार/ होने लगी कुरकी,/ जुनरिया हो गई मन भर की। लागा बिक गयो, लंगरा बिक गयो,/ बिक गई अंगिया तन की/ जुनरिया हो गई मन भर की।/राजा के बांधन को सेला बिक गया/ फजिअत हो गई घर-घर की,/ जुनरिया हो गई मन भर की। अर्थात् ओ महाराज, लगान अधिक देना पड़ रहा है,/ ज्वार रुपए की मन भर हो गई है, मुंशी आया, पटवारी आया,/लो तहसीलदार भी आया, कुर्की होने लगी है,/ज्वार रुपये की मन भर हो गई है। मेरा लहंगा बिक गया, ओढ़नी बिक गई,/तन की अंगिया भी बिक गई, ज्वार रुपए की मन भर हो गई है।/सेला, जिसे मेरा पति पहनता था, बिक गया, घर-घर हुई है यही फजीहत,/ज्वार रुपए की मन भर हो गई है।

गीतों के रसिया सत्यार्थी पांडोरी गाँव में वहाँ के स्थानीय थाने में पहुँच जाते हैं जहाँ एक सिपाही से वह पांच-छः अच्छे लोकगीत प्राप्त करते हैं। उनमें से एक अत्यंत मार्मिक गीत जो 'बुंदेलखंड मूक नहीं' नामक लोक निबंध से उद्धृत है जिसे सवाई दुल्हन जो ब्राहमण स्त्री है गाती है– *रसिया आए गरद उड़ीए गोरी/जब मोरे रसिया मेंड़े पै आए/ सूखी दूब हरियानी, गोरी/रसिया आए गरद उड़ी, गोरी। जब मोरे रसिया कुयला पै आए/रीते कुया भर आए, गोरी। रसिया...।*

एक दूसरा गीत जिसे सत्यार्थी जी ने टीकमगढ़ की जमुनिया बरेटन के मुख से सुना जिसमें फाग के आनंद उत्सव में भी उसकी गरीबी बोल रही है– *गौहूं हते सो हो गए/ भुस ले गई अंगवार, टोटे में टलवा गए/ बाढ़ी में खगबार, जरीबाने में लिख लौ दोई जोबना।*

'धरती गाती है' मैं संकलित सत्यार्थी जी द्वारा इस लोकगीत का अनुवाद देखिए –

गेहूँ था वह खत्म हो गया,/घाटे में बैल बिक गए, भूसे को झक्कड़ उड़ा ले गया।/बनिए को बाढ़ी का अनाज लौटाने में मेरी हंसली भी चली गई। अब लगान न चुका सकने के जुर्माने में मेरे दोनों उरोज लिख लो।

उपर्युक्त लोकगीत में नारी की यह वेदना समस्त जनता की वेदना का प्रतिनिधित्व करती है। सत्यार्थी जी ने इन गीतों के माध्यम से सामान्य जनता के मन और आत्मा का साक्षात्कार किया था, तभी तो अलग-अलग अंचलों की समूची जनता का दुःख-दर्द उन्हें उद्वेलित करता है। उन गीतों की शक्ति सौन्दर्य का अमिट प्रभाव उन्होंने अपने निबंधों में स्वीकार किया है। मनु जी अपने आलेख 'लोकगीतों के दरवेश : देवेन्द्र सत्यार्थीजी' में लिखते हैं कि लोकगीत-संग्रह का उनका काम कालान्तर में स्वराज्य की लड़ाई का अटूट हिस्सा बनता चला गया। 'सत्यार्थी जी ने ढेरों ऐसे गीत भी खोज निकाले जिनमें गुलामी की गहरी टीसती हुई पीड़ा है और अंग्रेज सरकार के अत्याचारों के प्रति गुस्सा और तकलीफ भी।... पर इससे भी गहरी और सच्ची भावना थी भगतसिंह के प्रति, जो क्रांतिकारियों के सिरमौर थे।' भगतसिंह के हृदय की देशभक्ति की भावना की उत्कटता को प्रकट करता एक गीत भी उन्होंने उद्धृत किया है–

दुष्ट मुएें, मोरे पल-पल होते अँवार/ क्यों डरो डार गल फाँसी? सूंधा सूरा स्वर्ग को जाउँ/ धरम राय को बिथा सुनाउँ, और हर से माँग भगत सिंह को लाउँ/ भारत को हज़ार/ क्यों डरो डाल गले फाँसी?

देवेन्द्र सत्यार्थी लोकगीत संग्रहकर्त्ता ही नहीं एक स्थापित साहित्यकार भी हैं। उनकी कारयित्री प्रतिभा उन्हें सृजन के क्षेत्र में भी ले आई। कहानी, कविता, उपन्यास, निबंध आदि विधाओं में खूब लिखा जिनमें उन्हें विशेष पहचान मिली। इनके अतिरिक्त रेखाचित्र, संस्मरण और यात्रावृत्तांत विधाओं को भी समृद्ध करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन विधाओं में जहाँ लोक प्रतिबिम्बित हैं, वहाँ उन्होंने अन्तर्मन को उड़ेला अपनी आत्मकथा- 'चांद-सूरज के बीरन' में। इसमें लेखक सत्यार्थी का मानस ही नहीं पूरे पंजाब का लोकमानस भी है।

सत्यार्थी जी ने जो सृजनात्मक साहित्य लिखा वह भी लोकसाहित्य से अप्रभावित न रह सका। सत्यार्थी जी ने जो उर्दू में अफसाने लिखे उनमें भी लोकसाहित्य की सुगंध-भरी हुई है। जब एक भेंट में उनसे महबर के संपादक नरेन्द्र निश्चल ने यह पूछा कि आपके अफसानों में एक यात्री अधिक है और अफसानानिगार कम तो

सत्यार्थी जी ने यह स्वीकार किया कि मैं सारा हिन्दुस्तान घूमा हूँ और मैंने हर जगह की हर चीज़ देखी है, रस्मो-रिवाज़, रहन-सहन, संगीत, लोकसंगीत– मेरे अफसानों में ये चीजें महत्त्वपूर्ण हैं इसलिए यह महसूस होता है कि मेरा रवैया बँधे-टके अफसानानिगार का नहीं, एक यात्री का है....।

खुद सत्यार्थी जी के अफसानों में तो लोकसाहित्य का प्रभाव है ही उनके समकालीन लेखक मित्रों में भी उनका यह प्रभाव मिलता है। कृश्न चन्दर उनके लेखन से प्रभावित थे। राजेन्द्र सिंह बेदी की 'ग्रहण' कहानी में जो लोकगीत शामिल है उसे सत्यार्थी जी ने ही बेदी जी को दिया था। सत्यार्थी जी ने एक बातचीत में महमूद हाशमी को बताया– 'जिंदगी के मोड़ पर', 'गर्जन की एक शाम' और 'पानी का दरख्त' नामक कहानियों में कृश्न चन्दर मेरे लेखन से प्रभावित हैं।..... 'ग्रहण' कहानी में जो लोकगीत शामिल है, वह मैंने बेदी को दिया था।....

सत्यार्थी जी ने हिंदी, उर्दू, पंजाबी तीनों में लिखा। कहानियाँ, कविताएं लिखीं। उपन्यास लिखे लेकिन साहित्य-जगत् में उनकी पहचान लोकगीतों के अन्वेषक/संग्राहक के रूप में सर्वाधिक है। उन्हें जो प्रतिष्ठा और प्रेम इसके द्वारा मिला उनकी अन्य विधाओं द्वारा नहीं। सुनीति कुमार चटर्जी ने शायद ठीक ही कहा था– 'आप चाहे कुछ भी लिखें लेकिन खुदा की अदालत में आपको 'लोकगीत वाला' कहकर ही याद किया जाएगा।' कितनी बड़ी प्रशस्ति है यह लोकगीतों के रसिया के लिए। आप इस धरती पर तो लोकगीत वाले हो ही। ऊपर जाकर भी तुम्हारी यही पहचान रहेगी। वस्तुतः व्यक्ति की पद-प्रतिष्ठा अथवा पहचान इस लोक तक ही रहती है किंतु निःस्वार्थ भाव से किए गए अपने अद्वितीय कार्य के कारण सत्यार्थी जी की सुगंध उन्हें ऊपर ईश्वर की अदालत में उनकी पहचान बनाए रखने में सहायक होगी। वैसे सत्यार्थी जी का मानना है कि 'मैंने जितनी भी विधाओं में लिखा है सबमें कहीं न कहीं लोकगीतों का उल्लेख है। हर लेखक की तरह मुझे भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए माध्यम चुनने की आज़ादी है। मैंने कहानियों और उपन्यास जितने भी लिखे हैं उनमें मैं लोक जीवन को सदा साथ लेकर चला हूँ। मैंने इनके कथ्य चाहे लोकजीवन और लोक संस्कृति से उठाए हैं किंतु शिल्प आधुनिक है।'

सत्यार्थी जी की लोक-यात्राओं के अनुभव उनके कथा साहित्य में घुलमिल गए हैं। उनके उपन्यासों के विषय में मनु जी लिखते हैं– 'सत्यार्थी जी के उपन्यासों में लोकजीवन का गहरा आत्मीय रंग, लोकनृत्य, गायन और मस्ती के अलग-अलग शेड्स हैं तो एक बड़े समाज की पीड़ा और छटपटाहट भी। सत्यार्थी जी इन सबको संवेदना की आँख से देखते रहे और नए-नए कला-रूपों में उभारते चले गए।..... सत्यार्थी जी प्रयोग की धुन में यथार्थ को अवमूल्यित या खारिज नहीं करते। बल्कि यथार्थ अपनी पुरानी केंचुल छोड़कर कुछ अधिक तीखा, स्पन्दशील और केन्द्रीभूत होकर इन उपन्यासों में आया है और कहीं अधिक मारक प्रभाव छोड़ता है।... लोकजीवन और लोकसाहित्य पर उनकी टिप्पणी सूक्ति और बेहद चुभीली कहावतें साथ ही साथ चलती हैं।... इन उपन्यासों में ज्यादातर पात्र भी वही हैं जिन्हें सत्यार्थी जी ने अपनी घुम्मकड़ी और यात्राओं में पाया था।... एक खास बात कि सत्यार्थी जी अपने विषय या कथ्य को कभी दुहराते नहीं।....

समग्रतः कहा जा सकता है कि डॉ. सत्यार्थी जी का यह कार्य हमें, हमारी सभ्यता एवं हमारे समाज की जड़ों की ओर लौटाकर ले जाता है। हमें हमारे अतीत से जोड़ता है जिसको हम भुला देने की बार-बार गलती कर जाते हैं। आवश्यकता है ऐसे और लोकगीत-प्रेमियों की जो इस कार्य को आगे बढ़ाएं। यदि युवा पीढ़ी अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोली के लोकगीतों को अपने परिवार के बड़े-बुजुर्गों से सुनकर उन्हें लिखित या श्रव्य माध्यम के द्वारा संगृहीत कर ले तो राष्ट्र की इस अमूल्य निधि को अभी भी बचाया जा सकता है। यह देश, समाज और साहित्य की सच्ची सेवा होगी।

❑❑

(एसोसियेट प्रोफेसर, मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)

संपर्क : एन.डी. 57, पीतमपुरा, दिल्ली-110034, मो. 9958455392

बुन्देली लोक-कवियों द्वारा जन-जीवन की अभिव्यक्ति

डॉ. उत्तम कुमार शुक्ल

बुन्देलखण्ड भारतवर्ष का हृदय स्थल है। यह स्थल ऋषि-मुनियों की तपस्या स्थली है। परम पवित्र चित्रकूट धाम इसी खण्ड विशेष में स्थित है। अपने निर्वासन काल में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने बारह वर्ष तक चित्रकूट में ही निवास किया। त्रेतायुग में विशाल धर्मसभा चित्रकूट में ही हुई थी, जिसमें विदेहराज जनक भी उपस्थित हुए थे। बुंदेलखण्ड वीर प्रसूता धरती रही है। भारतवर्ष के मध्य भाग में नर्मदा के उत्तर और यमुना नदी के दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत की शाखाओं से समाकीर्ण और यमुना की सहायक नदियों- बेतवा और चम्बल के जल से सिंचित एवं प्राकृतिक सौन्दर्य से अलंकृत प्रदेश को बुन्देलखण्ड की संज्ञा प्राप्त है। समय-समय पर इसके नाम में परिवर्तन होता रहा है, यथा-दशार्ण, वज्र, जेजाक-भुक्ति-जुझौती, जुझार-खण्ड, विन्ध्येल खण्ड-बुन्देलखण्ड। वस्तुतः बुन्देला राजाओं का आधिपत्य होने के कारण उन्हीं के नाम पर इसे बुन्देलखण्ड कहा जाता है। इस क्षेत्र विशेष में एक लोकोक्ति प्रचलित है–'खण्डन-खण्डन ज्यों लसै खण्ड बुन्देला देश।' अर्थात् बुन्देलों द्वारा शासित 'बुन्देला देश' अन्य खण्डों से विशिष्ट है। इस क्षेत्र विशेष में समय-समय पर विभिन्न राजवंशों का आधिपत्य रहा है। सबसे महत्वपूर्ण शासनकाल चन्देल राजाओं का था। चन्देल राजाओं के पूर्वज चन्द्रवर्मा काशी की देन थे। सन् 740 ई. से लेकर सन् 1559 ई. तक चन्देलवंश के राजा बुन्देलखण्ड में शासन करते रहे।[1]

बुन्देलखण्ड के राजाओं के आश्रित कवियों, लेखकों, चारणों और भाटों ने उन्हें काशी के राजकुल का क्षत्रिय माना है, जो बाद में विन्ध्यवासिनी के वरदान से बुन्देला कहलाये। लोक मानस में यही तथ्य परम्परा से स्वीकृत है। केशवदास कृत वीरसिंह चरित, लाल कवि रचित छत्र प्रकाश, पद्माकर के पौत्र गदाधर भट्ट प्रणीत कैसर सभा विनोद एवं विजय बज्र विलास तथा नवल सिंह प्रधान की रचना बज्रभूमि प्रकाश में बुंदेलों की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है। केशवदास ने श्रीराम के द्वितीय पुत्र कुश से बुंदेलों की वंश परम्परा मानी है– *'कुस कुल को एक कुमार। आनि धर्‌योभुव पाऊ।।'* (वीर सिंह देव चरित-21241)। विन्ध्यवासिनी देवी का कठिन तप करने के पश्चात् कुमार ने अपना शीश काटकर दुर्गा को चढ़ाना चाहा, इसके पूर्व कि वह सिर को कृपाण से काटे, दुर्गा ने दैवी वाणी में वरदान दिया 'तू राजा होगा।' कुमार पंचम् ने देवी से प्रकट होकर दर्शन देने का आग्रह किया और पुनः ध्यान मग्न हो गया। विलम्ब होने पर कृपाण से अपनी जीभ काटकर चढ़ाना चाहा कि दुर्गा ने प्रकट होकर वरदान दिया- 'तेरे वंशज मध्य देश में राज करेंगे।' जीभ काटने के उपक्रम में रक्त की एक बूँद धरती पर गिरा, इसी से बुंदेला कहलाये।'[2] (जालौन गजेटियर, पृष्ठ-118)। बुंदेलखण्ड की विशालता के विषय में पं. घासीराम व्यास लिखते हैं–

चित्रकूट औड़छो, कालिंजर उन्नाव तीर्थ,
पन्ना, खजुराहो जहाँ कीर्ति झुक झूमी है।
जमुन, पहुज, सिंधु, बेतवा, घसान, केन
मंदाकिनी, प्यस्विनीप्रेमपास घूमी है।
पंचमनृसिंह, रावचम्पतरा, छत्रसाल,
लाला हरदौल भावचाव चित्तचूमी है।
अमर अनन्दनीय असुर निकन्दनीय
वन्दनीय विश्व में बुन्देलखण्ड भूमि है।

बुन्देलखण्ड की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के झाँसी, जालौन, हमीरपुर– बाँदा, महोबा जिले तथा मध्य प्रदेश के ग्वालियर संभाग के ग्वालियर, भिण्ड, मुरैना और शिवपुरी जिले तथा भोपाल सम्भाग के सीहोर, रायसेन, विदिशा, होसंगाबाद जिले, जबलपुर संभाग के जबलपुर, सागर, दमोह, नरसिंहपुर जिले छिन्दवाड़ा जिले की अमरबाड़ा एवं सिवनी की लखनादीन तहसील, बालाघाट जिले का उत्तरी भाग और रीवा संभाग के टीकमगढ़, दतिया, छतरपुर एवं पन्ना जिले आते हैं।

बुन्देलखण्ड की माटी में विनम्रता है, किन्तु दैन्य नहीं। अपनी आन-बान-शान पर मर-मिटना यहाँ का लोकादर्श रहा और युद्ध में मृत्यु का वरण करने में ही मानव जीवन की सार्थकता और धन्यता मानी जाती है। कवि जगनिक के शब्दों में-

मानुष देही जा दुरलभ है आहे समै न बारम्बार।
पात टूट कें ज्यों तरवर को कभउँ न लागै डार।
मर्द बनाये मर जैवें को खटिया परकें मरै बलाय।
खटिया परके जे मर जैहैं, नाँव डूब पुरखन को जाय।
जे मर जैहैं रन खेतन माँ साखों चलो अँगारूं जाय।[3]

लोक-कवि के गीत लोक-कण्ठ से फूटते हैं और लोक-काव्य लोक-मुख से उद्‌गीर्ण होता है। लोक-काव्य कवि विशेष की रचना होकर भी जन-जन का कंठहार बन जाता है और सामान्यीकृत होकर सबका हो जाता है। उसकी अनुभूति भी, जिसकी अभिव्यक्तिउसके गीतों में होती है, लोक-सम्बद्ध होने से लोकानुभूति ही होती है। डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने कहा है– 'लोकगीत या लोक-काव्य वह है, जो अपनी लोकानुभूति और लोकाभिव्यक्ति की सामर्थ्य के कारण लोकप्रिय हो तथा लोकमुख में जीवित हो, भले ही वह ज्ञात या अज्ञात कवि की रचना हो। सिर्फ रचयिता के अज्ञात रहने से किसी काव्य को लोककाव्य और ज्ञात होने से व्यक्ति-कविता मान लेना अनुचित है।'[4] उदाहरणस्वरूप एक रचना देख सकते हैं। मुर्गे की बाँग गाँव में प्रभात की पूर्व सूचना देती है, जिसके साथ ही जन-जीवन सक्रिय हो जाता है और लोग उठकर अपने-अपने कामों मे लग जाते हैं। एक बहन द्वारा भाई को जगाये जाने के बहाने गाँव की प्रातःकालीन दिनचर्या का बड़ा ही यथार्थ और सजीव चित्र बुंदेली लोक कवि राचरण हयारण मित्र ने अपने लोकगीत 'भोर' में किया है–

बीरन हो रओ भोर दूद-सी डूबन लगी तरैयाँ।
बड़ी भुजाई ने बखरी को टाल-टकोरा कर लओ।
मातेजू के बड़े कुआँ का मीठों पानी भर लओ।
मुरगन ने दई बाँग, डरैयन बोलीं श्याम चिरैयाँ।।

भैया, भोर हो रहा है, दूध-सी दुग्ध धवल तरैयाँ डूबने लगी हैं। बड़ी भाभी ने घर का काम निबटाकर कुएँ का मीठा पानी भर लिया है। मुरगे बाँग दे रहे हैं और डालों पर चिड़ियाँ-चहचहाने लगी हैं। बुंदेली लोक जीवन की भोर का इन पंक्तियां में बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया है।

ईसुरी बुंदेली के अप्रतिम लोक कवि हैं। वे प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। जीवन और जगत के कवि हैं। राग और विराग के कवि हैं। अदम्य आस्था और विश्वास के कवि हैं। यौवन और उल्लास के कवि हैं। उनकी साँस-साँस से, शब्द-शब्द से कविता फूटती थी। वे आशु कवि थे। कबीर की तरह कविता स्वयमेव उनके कंठ से फूट पड़ती थी। कविता उनके मन में रची थी, प्राणों में बसी थी। वे कविता-जीवी कवि थे। अन्तिम साँस भी उन्होंने फाग की लय में ली थी–

लै लेव सीताराम हमारी, चलती बेरां प्यारी।
ऐसी निंगा राखियो हम पै नजर न होय दुआरी।
मिलके कोउ बिछुरत नईयाँ जितने हैं जिउधारी।
ईसुर हंस उड़त की बेरां झुक आई अँधियारी।।

ईसुरी के काव्य की प्रेरणास्रोत उनके रोम-रोम में रमी रजऊहै जो कभी तो शरीरी बनकर अपनी सुन्दरता में अनुपमेय होकर उनके प्रेम का आलम्बन बन जाती है तो कभी अलौकिक रूप धारण कर उनकी परमाराध्या

आद्या आह्लादिनी शक्ति राधा, और तब लौकिक और पारलौकिक दोनों धरातलों पर उसका सामान्यीकरण हो जाता है। घनानन्द की सुजान की तरह वह भी ईसुरी की ही न रहकर सबकी हो जाती है–

'सोभा रजउ की कीसों करिये, कियें उनारन जइए।
बड़कें चीज इकीसई सोनो ईखों का परखइए।
दरस दच्छना मिलत भाग से इकटक देखत रइए।
साजी फागें कई ईसुरी सुगर सुनइयां चइए।।'

ईसुरी 'रजउ' की आलोचकों द्वारा की जाने वाली व्यक्तिरूप में तलाश को व्यर्थ मानते हुए कहते हैं–

'नइयाँ रजउ काहू के घर में विरथा कोउ न भरमें।
को कय अलख-खलक की बातें लखी न जाय नजर में।
सबमें है सबई से न्यारी सब ठौरन में भर में।
ईसुर गिरिधर रयँ राधा में राधा रयं गिरिधर में।।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने लिखा है– ईसुरी की रजउ वास्तविक होते हुए भी काल्पनिक है और काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक। वास्तविकता और काल्पनिकता की यह समरसता ही ईसुरी की शक्ति है।[5]

ईसुरी के फागों में लोक जीवन अपनी समग्रता से प्रतिबिम्बित और गुम्फित हुआ है। लोक जीवन नैतिकता का पक्षधर है। कुकर्मी का सामाजिक बहिष्कार, हुक्का-पानी बन्द हो जाना कठोरतम दण्ड है। परकलत्रगामी की यह घोर अवमानना द्रष्टव्य है–

खा गये पर नारी से चुक्का, बन्द जात में हुक्का।
नाँव धरत है बड़े आदमी संबरे कात उचक्का।
डाँड़ मामले होन लगे हैं साव टीप दओ रुक्का।
ईसुर काल करै जो यारी सौ कहलावै लुक्का।।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने जाति-बहिष्कारजन्य इस लोकदण्ड को राजदण्ड से भी कठोर और सभी प्रकार के दुःखों में सर्वाधिक दुःसह माना है- जद्यपि जग दारुन दुःख नाना। सब तैं कठिन जाति अवमाना।।[6] बुन्देलखण्ड में पहले बाल-विवाह हो जाते थे और वयस्क होने पर ही कन्या का गौना होता था और वह ससुराल जाती थी। यौवन के आगमन के साथ ही नारी-मन में गौना कर नैहर से सदा के लिए जाने की इच्छा बलवती हो उठती थी और वह प्रतीक्षा करने लगती थी, डोला लेकर लिवाने आने वाले अपने बलम की और ससुराल जाकर फलाने जू की दुलहिन कहकर पुकारे जाने की–

वे दिन गौने के कब आवैं जब हम ससुरे जावैं।
बारे बलम लिबौआ होके डोला संग सजावैं।
गा-गा गुइयाँ गाँठ जोर के दौरे लौ पोंचावैं।
हाते लगा सास ननदी के चरनन सीस नबावैं।
ईसुर कबै फलाने जू की दुलहिन टेर कहावैं।।

सन्तोष सिंह बुन्देला ने अपने लोकगीत फागुन के मेह में इस क्षेत्र के कृषकों की दीनदशा के बड़े करुण चित्र उकेरे हैं– स्यारी में सूखा पड़ गया, बेचारे कृषकों ने थोड़े से पैदा हुए लठारे से कुछ दिन गुजारा किया, महुआ-मुरका खा-खाकर क्वांर की बोनी की, रात-दिन कड़ी मेहनत करके पसीना बहाकर खेतों में लहलहाती फसल देखी तो ओले बरसाकर सब कुछ चैपट कर देने वाले ये दुर्दैव-प्रेरित फागुन के मेघ आकाश में घिर आये। आगे एक बेटी की ब्याह है, दूसरी का गौना है, जमा पटानी है, साहूकार कर्ज की रकम माँग रहा है, सलूका फट गया है, पत्नी की धुतिया भी तार-तार हो रही है, बेटा तीन दिन से ज्वर से पड़ा काँप रहा है और हाथ में एक छिदाम भी नहीं है–

साल भर लौ छाती मारी तब जा फसल दिखानी।
अब जाने का राम करइयाँ जा होनी मँडरानी।
आँगे रमकुइँयाँ को ब्याह घरौ छितिया अबै चलाव।
काल पैसा माँगत ते साव, मुसीबत आई है न पल्ले पाई है।

बुन्देली लोक-काव्य के तीन जगमगाते रत्न हैं– ईसुरी, ख्यालीराम और गंगाधर व्यास। इनमें शीर्षस्थ हैं ईसुरी। अन्य दोनों कवियों पर इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कविवर ईसुरी ने बुन्देली फाग साहित्य में चैकड़िया छन्द को अमरता प्रदान की तो ख्यालीराम की विशेष देन यह रही कि उन्होंने सूत्र रूप में चूड़ामणि की भाँति एक दोहा जड़कर उस चैकड़िया फाग का शीर्षभाग अलंकृत कर दिया।

बरर्न में चरनी नासिका, काउने बरनी दीठ।
कवि ख्याली चरनन करी बदलिपत्र सम पीठ।
कवि ने कंदली पत्र सम बरनी, पीठ सुरन मन हरनी।
जोड़ी जुग कुंदन की पटरी, बही बीच बैतरनी।
अभी अगाहे पिये के लाने चढ़ी नागिनी तरुनी।

बोली ख्याली की जीवन दाता नन्दनन्दन की घरनी।।[7]

यहाँ पुष्टगात्रा तत्पकांचन वर्ण राची की पीठ के लिए सीधे कदलीपत्र का उपमान सर्वथा सार्थक, सटीक और ताजा है। रीढ़ की हड्डी से जुड़के गोरी के पीठ के दोनों भागों के लिए 'जोड़ी जुग कुन्दन की पटरी' कथन भी उपयुक्त है। ख्यालीराम की एक पंचकड़िया का काव्य सौष्ठव द्रष्टव्य है, जिसमें एक तरुणी के तीक्ष्ण बेधक नेत्र-तुरंग बिहारी की नायिका के नेत्र-तुरंगों से प्रतिस्पर्धा ही नहीं कर रहे हैं, इसमें बाजी भी मार ले रहे हैं, क्योंकि बिहारी की मुग्धा नायिका के नेत्र-तुरंगों पर सवार कामदेव उसके प्रियदर्शन की लालसा के चाबुक से चोट करके उन्हें वेग से दौड़ लगाने के लिए उकसाता तो है, किन्तु लज्जा की खिंची लगाम उन्हें बढ़ने नहीं देती और वे वहीं खूँद-सी करने लगते हैं—

करै चाह सों चुटकि कै खरै उड़ौहें मैन।
लाज नवाएँ तरफरत करत खूँद-सी नैन।।

जबकि ख्यालीराम की प्रौढ़ा के नेत्र-तुरंगों को लज्जा की लगाम लग नहीं पाती और वे स्वच्छन्द उड़ान भरने लगते हैं, तथापि कवि उन्हें मर्यादा में रखने की नायिका को सीख देने से नहीं चूकते–

तोरे तिय तुरंग से नैना लाज लगाम लगैं ना।
माया मन मजबूत से मोहरा जेरबंद जिनकै ना।
चार चारु जीना चतुराई तंग तरुनाई कसैं ना।
घूँघट घुड़सारन से काढ़े कूदत फुँदक फुँदना।
कवि ख्याली आली ना छोड़ौ गलियन दैल खुँदैंना।।

बुन्देली लोकगीत के सशक्त हस्ताक्षर गंगाधर व्यास विलक्षण प्रतिमा सम्पन्न थे और ईसुरी की काव्य परम्परा को पुष्ट करने वाले ख्यातनामा फड़बाज। उन्होंने ईसुरी के काव्य का लोहा इन शब्दों में माना है- 'गंगाधर ईसुर रसिया ने फाग कही कै जादू।' इन्होंने ने भी ईसुरी की फागों से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। कहीं-कहीं अपनी फागों में पूरी की पूरी उनकी पंक्ति ही ले ली है, तो कहीं कुछ शब्दों में परिवर्तन करके उसके प्रभाव में अभिवृद्धि का प्रयास किया है। इन दोनों लोक कवियों की केश और नेत्र विषयक एक-एक फाग यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा–

1. ईसुरी-बिथरे डरे केस अनगोये, आज लाडली धोये।
बुंदा चुबत नितम्बन उपर कम से गये निचाये।
पसरे परे सुमेरु सिखर पर कागपक्ष से सोये।
मानो जलज सुक्र तारागन स्याम पाट में पोये।
ईसुर छबि देखी छाजै पै चढ़ सुकुमार निचाये।।
गंगाधर व्यास- बिथरे उरे स्यामता बोरे, आज लाडली छोरे।
माखन डार मले माटी से पठलै पोंछ निचैरे।
डारत अतर सुगन्ध सुहागिल कर लै ककई निगौरे।
मनौसपूत पूत पन्नग के ज्यों मरकत के डोरे।
'गंगाधर' लट-लीट के ऊपर प्रान निछावर मोरे।।
2. ईसुरी- नैना बारे से ना तासे, देखत बनत तमासे।
लै लै जात लौट घूँघट में दै दै जात घमांसे।
जाँ खाँ झुकत रुकें न रोके सूर वीर है साँसे।
जो बस में न भये ईसुरी स्याम लये इन गाँसे।।
गंगाधर व्यास- नैना बारे सें ना ठाँसे, देखत बनत तमासें।
छोवा करत चलत तिरछो हैं सुखी रहे जे साँसें।
जित खँ चलत रुकत ना रोके दै दै जात झमासे।
इनकी पीर गयी है मारी कैउ जनन खाँ आँसे।
गंगाधर कयें इन नैनन खाँ मनमोहन ने गाँसे।।

यहाँ पर अन्तर बस इतना है कि गांगाधर ने ईसुरी की चैकड़िया फाग को पंचकड़िया में विस्तृत कर दिया है और ईसुरी वर्णित नेत्रों ने जहाँ श्याम के चंचल मन को भी अपने वश में कर लिया है, वहाँ गंगाधर के मनमोहन ने ही इन नेत्रों की चंचलता पर, उनकी भटकन पर उर में अपनी अनुपम छवि अंकित करके अंकुश लगा दिया है।

लोक जीवन का खट्टा-मीठा, कटु-तिक्त अनुभव और परम्परागत दीर्घ-कालीन चिन्तन नवनीत लोकोक्ति के रूप में प्रकट होता है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार लोकोक्तियां ग्रामीण जनता का नीतिशास्त्र हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं बुंदेली की कुछ लोकोक्तियां, जिन्हें लोककवियों ने अपने गीतों में सुगुंफित किया है– मिथ्या नहीं कविन की बानी, जिह्वा बसत भवानी। कैसे जिएं गरीब गुसइयाँ। छिंके अन्न के दोरे। तरवर पत्र गिरत धरनी में फिर न लगत डरैंयां। ईसुर देह काम न आवैं, पसु की बनत पनइयाँ। जरवर देह मिलै माटी में फिर ना चुनें चिरैंयाँ-ईसुरी।

करमहीन कलपत रहें कल्पवृक्ष की छाँह। ख्याली

चन्द होय न मैलो, का भओ धूर उड़ाए। मैले चीर नीर मैले में उज्ज्वल होत न फींचे। इमली आमहोय ना ख्याली चाय दूध से सीचें। ऊ का जानै पीर पराई, चाव होत न जैसे? कवि ख्याली उनके का कमती, जिनको श्याम कमैरो। किसक मिसक खाँसी और खुर्रा ये ना छिपत छिपाएँ– ख्यालिराम। जौ जुग सुदेपन को नइयाँ टेढ़े बिरछा डाँगन रउतइ, सूदन घलै कुलैया[8] 'राहू की टेढ़े चन्दा पै परत नई परछैयाँ'[9] 'मित्र न कैसऊँ कै घी कढ़तई टेढ़ी बिना उगैंयाँ'[10]

वस्तुतः बुंदेली लोकजीवन से जुड़ी रचनाएँ, जन-जन में प्रचलित लोक गाथाएँ सच्चे अर्थों में हमारी लोक-संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। ये रचनाएँ विविधता में एकता बनाये रखने में पूर्ण रूपेण सक्षम हैं। सामाजिक समरसता के पोषण में लोक जीवन से जुड़ी इन रचनाओं की अहम् भूमिका है।

सन्दर्भ-

1.चन्देल और उनका राजत्वकालः केशवचन्द्र मिश्र, पृष्ठ 43-47 नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, नवीन संस्करण, संवत् 2025। **2.** बुंदेलखण्ड का संक्षिप्त इतिहासः गोरेलाल तिवारी, परिषिष्ट-2 पृष्ठ 379-80 संवत् 1990, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी। **3.** आल्हखण्डः जगनिक। **4.** लोक कवि ईसुरी और उनका साहित्य : नर्मदा प्रसाद गुप्त, बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर (म.प्र.) पृष्ठ-81-82। **5.** वही, पृष्ठ- 56-57। **6.** बालकाण्डः दोहा सं. 62 की चौथी चैपाई की अर्धाली, हनुमान प्रसाद पोद्दार गीता प्रेस, गोरखपुर। **7.** बुन्देली फाग साहित्य में ख्याली राम का योगदानः डॉ. हर गोविन्द सिंह, निबन्ध (बुन्देली फाग काव्यः एक मूल्यांकन)- सम्पादक डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, बुन्देल साहित्य अकादमी, छतरपुर (म.प्र.), पृष्ठ- 53। **8.** संस्कृत की इस सूक्तिसे मिलाइये- *नात्यन्तं सरलैर्भव्यं गत्वा पश्च वन-स्थलीम्। छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः।।* **9.** *टेढ़े जानि संका सब काहू। वक्र चन्द्र जिमि ग्रसइ न राहू।। रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास।* **10.** सीधी उंगली घी न निकले- इस सूक्ति से मिलती-जुलती है।

❑❑

–अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
डॉ. भीमराव अम्बेडकर राजकीय
महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
फतेहपुर
मो. 9450564672

महात्मा गांधी 15 अप्रैल, 1917 को चंपारण जिले के मुख्यालय मोतिहारी पहुंचे। रास्ते में ही एक सब-इंस्पेक्टर ने आकर सूचित किया कि वापस जाने का आदेश है। गांधीजी ने मानने से इंकार कर दिया। मजिस्ट्रेट को लिखा कि नहीं जाएंगे, सजा के लिए तैयार हैं। अगले दिन कोर्ट के सामने भारी भीड़ जमा हो गई थी। गांधीजी ने बचाव पेश नहीं किया, बल्कि जेल जाने की इच्छा व्यक्त की। उनके इस रुख ने अधिकारियों को चकित कर दिया। सजा का फैसला वापस लेना पड़ा। यह देश में सत्याग्रह का पहला प्रयोग था। सविनय अवज्ञा आंदोलन और सत्याग्रह की शुरुआत यहीं से हुई।

वाचिक परंपरा में कुमाउनी कहावतें

डॉ. हेमचंद्र दुबे 'उत्तर'

कुमाऊं क्षेत्र की वाचिक और परिनिष्ठित परंपरा पर प्रकाश डालने से पूर्व कुमाऊं क्षेत्र का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक हो जाता है। मध्य हिमालय के कुमाऊँ और गढ़वाल क्षेत्र को मिलाकर उत्तराखंड कहा जाता है। स्कंदपुराण में कुमाऊं को मानसखंड तथा गढ़वाल को केदारखंड कहा जाता है। मध्य हिमालयकी गोद में अवस्थित उत्तराखंड को आदिकाल से देवभूमि के नाम से अभिहित किया जाता है। कुमाऊं का नाम कुमाऊं या कूर्मांचल होने के पीछे विद्वानों के अलग-अलग अभिमत हैं। कुमाऊं के इतिहास के लेखक बद्रीदत्त पांडे जी का कहना है कि इस प्रांत का नाम कुमाऊं या कूर्मांचल होने के विषय में यह किंवदंती कुमाउनी समाज में प्रचलित है कि जब विष्णु भगवान का दूसरा अवतार 'कूर्म' (कछुए) का हुआ तो वह कहा जाता है कि चंपावती नदी के पूर्व वह पर्वत में (जिसे आजकल कांडा देव या कानदेव कहते हैं) 3 वर्ष तक खड़ा रहा, उस समय हा-हा हू-हू देवतागण तथा नारदमुनि इत्यादि मुनियों ने उनकी प्रशंसा की। उस कूर्म (कच्छप) के अवतार के चरणों के चिह्न पत्थरों पर हो गये और उनका तब से अब तक विद्यमान होना माना जाता है। तब से इस पर्वत का नाम कूर्मांचल (कूर्म+अंचल) हो गया।[1]

स्कंदपुराण में 'कूर्मांचल' का वर्णन हिमालयी क्षेत्र के पांच खंडों में से एक खंड के रूप में मिलता है–

'खंडा पंचहिमालयस्थ कथिता नेपाल कूर्मांचलो।
केदारोऽथ जलंधरोऽथ रुचिरः कश्मीर संज्ञोऽन्तिमः।।'[2]

भोगोलिक दृष्टि से कुमाऊं 28^0 51' से 30^0 49' उत्तरी अक्षांश तथा 77^0 43' से 81^0 31' पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। इसके पूर्व भाग में नेपाल, पश्चिम में गढ़वाल या गढ़देश, उत्तर में तिब्बत तथा दक्षिण में उत्तर प्रदेश के पीलीभीत, बरेली, मुरादाबाद आदि मैदानी जनपद आते हैं। वर्तमान समय में कुमाऊं मण्डल में 6 जनपद हैं– अल्मोड़ा, बागेश्वर, नैनीताल, पिथौरागढ़ हैं चंपावत तथा ऊधमसिंह नगर। इन जनपदों में से नैनीताल तथा ऊधमसिंह नगर जनपदों के कई हिस्से मैदानी हैं। इसके जनपदों में आदिवासी वनवासी जनजातियां भी निवास करती हैं।

कुमाउनी भाषा की लिपि देवनागरी है। यह शौरसेनी अपभ्रंश से उद्भूत मानी जाती है। कुमाउनी साहित्य के जाने माने विद्वान प्रो. शेरसिंह बिष्ट लिखते हैं– 'यद्यपि भाषा की दृष्टि से संपूर्ण कुमाऊं प्रदेश हिन्दी भाषी क्षेत्र के अंतर्गत आता है, परन्तु बोलियों के सर्वेक्षण की दृष्टि से विचार करें तो पूरे कुमाऊं में पांच बोलियां बोली जाती हैं–1. कुमाउंनी, 2. राजी, 3. भोटिया (शौका), 4. बुक्सा तथा 5. थारू। इनमें कुमाउनी का वर्गीकरण भाषाई वैविध्य के अनुसार किया गया है– पूर्वी कुमाउनी तथा पश्चिमी कुमाउनी। पूर्वी कुमाउनी को चार उपबोलियों में बांटा गया है–1. कुमय्यां, 2. सोर्याली, 3. सीराली, 4. अस्कोटी। पश्चिमी कुमाउनी को छह

भागों में विभाजित किया गया है– 1. खसमर्जिया, 2. चौगर्खिया, 3. गंगोली, 4. दनपुरिया, 5. पछाई तथा 6. रौ चौबैंसी।[3]’

उत्तराखंड के लोकसाहित्य एवं संस्कृति के विद्वान डॉ.गोविन्दचातक ने मध्य पहाड़ी की भाषाओं पर प्रकाश डालते हुए कहा है– ‘मध्य हिमालय की बोलियां मध्य पहाड़ी के नाम से अभिहित की जाती हैं। ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य भाषाओं का विभाजन करते हुए मध्य पहाड़ी की स्थिति भीतरी उपशाखा में निर्धारित की है। बाद में डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन की स्थापना से मतभेद प्रकट करते हुए भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण बहुत कुछ अपने ढंग से अवश्य किया, किन्तु उन्होंने भी पहाड़ी भाषाओं का दरद अथवा खस प्राकृत से संबंधित बताकर और मध्यकाल में उनपर राजस्थान की प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव घोषित कर अपने वक्तव्य की इतिश्री कर दी।’[4] मध्य हिमालय की विविध बोलियों में आदिम जातीय परिवारों की बोलियों के लक्षण विद्यमान हैं। प्राचीन काल में हिमालय की उपत्यकाओं में बसने वाले कोल, किरात, किन्नर, गंधर्व आदि की भाषाओं के शब्द विश्व स्तर पर प्रसारित रहे। द्रविड़ और आग्नेय परिवार की भाषाओं के कतिपय शब्द कुमाउनी में व्यवहृत होते रहे हैं।

मानवीय अभिव्यक्ति हमें दो रूपों में दिखाई देती है– वाचिक एवं लिखित, साहित्य में इन दोनों रूपों का समावेश होता है। वाचिक परंपरा का इतिहास बहुत पुराना है। मनुष्य के विकास काल-क्रमानुसार धीरे-धीरे वाचिक (मौखिक) परंपरा परिमार्जित होती गई। कुमाउनी समाज में आदिकाल से लेकर वर्तमान तक कई आख्यान, लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा और अन्य प्रकीर्ण लोक-विधाओं के रूप प्रचलित हैं। इन सभी लोक विधाओं में लोक तत्व का समावेश होता है। लोकतत्व लोक की समूची परंपरा को समुद्घाटित करता है। वाचिक परंपरा को कालक्रम में बांधना संभव नहीं होता, जबकि लिखित साहित्य का एक निश्चित काल क्रम निर्धारित किया जा सकता है। लोकमानस की अभिव्यक्ति प्रायः मौखिक परंपरा द्वारा होती है, लोक जीवन से जुड़ी हुई घटनाएं व विचार जिन्हें वाचिक अभिव्यक्ति द्वारा प्रकट होते हैं, जिन्हें सूत्र कथन के रूप में कहावतों को पर्याप्त ख्याति मिल जाती है। समाज व संस्कृति के विविध घटकों पर केंद्रित मुहावरों तथा कहावतों में संक्षिप्तता, सारगर्भिता तथा चटपटापन इनकी लोकरंजकता के गुण के कारण ये हर समय प्रत्येक मनुष्य की जिह्वा पर जीवंत रहती हैं।

कहावतों तथा मुहावरों को विश्व नीति-साहित्य का अंग माना जाता है। संस्कृत ग्रंथों में कहावतों के व्यापक प्रयोग मिलते हैं। वाचिक परंपरा की आधारभूत अभिव्यक्ति के रूप में इनहें सर्वत्र जगह मिली है। कहावतों के निर्माण और प्रादुर्भाव के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि कुमाउनी मुहावरे तथा कहावतें मानवीय व्यवहार और घटनाक्रम पर आधारित होकर इतिहास के दीर्घकालीन प्रवाह में संचरित होती आई है।[5]

कहावतों के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि ये विश्व साहित्य की हरेक भाषा में मौजूद हैं। इनके निर्माता सर्वथा अज्ञात हैं। कौन सी कहावत किस व्यक्ति ने किस भाषा-बोली में रचा, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति की सहजता को गागर में सागर भरने की वृत्ति के चलते इन्हें अपनाया होगा। कहावतें जीवन के प्रत्येक पहलू को समाविष्ट करती हैं, कुछ कहावतें ऐतिहासिक घटनाक्रम का परिचय देती है। कुछ कहावतों का आधार लोक पारंपरिक व्यवहार, प्रतिमान तथा विविध लोक कथाएं हैं।[6]

कहावत शब्द की व्युत्पत्ति मूलतः ‘कह’ धातु से हुई है, जिसमें वत प्रत्यय का योग है। हिन्दी व्युत्पत्तिकोश में कहावत शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है- कह- कि (कहना) सं. कथ्यं- प्रा. कह कहा,...पु.- कथन सं. कथना- प्रा. कहाणा- हि. कहा[7]। संस्कृत में कहावत को आभाणक कहा गया है, वामन शिवराम आप्टे ने ‘संस्कृत-हिन्दी कोश’ में आभाणक की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है– ‘आभाणक’ (ओ + भण् + ण्वुल) कहावत लोकोक्ति[8]। ‘ऑक्सफोर्ड इंगलिश-हिन्दी शब्द कोश’ में कहावत की व्याख्या इस प्रकार की गई है- proverb (प्रा-वर्ब) लोकोक्ति, जनोक्ति, कहावत[9]। डॉ. केशवदत्त रूवाली ने कहावत को पारिभाषित करते हुए

लिखा है– कहावत का संबंध कहना क्रिया से है। हर प्रकार का कथन कहावत की कोटि में नहीं आ जाता, विशेष कथन को ही कहावत कहा जा सकता है।[10] कहावतों के संबंध में विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं में प्रायः एकरूपता है। कहा जा सकता है कि कहावत एक लाक्षणिक अभिव्यक्ति है जो लोककथात्मक स्वरूप को अन्तर्निहित करते हुए संक्षिप्त रूप में मंतव्य के सार को अभिव्यक्त करती है।

कुमाउनी कहावतों में अंतिम शब्दाक्षर में णकार की प्रवृत्ति पायी जाती है। अलग-अलग क्षेत्रों में उच्चारणगत वैभिन्नय भी पाया जाता है। कुमाउनी कहावतों के वर्गीकरण के अनेकशः आधार हैं। विषय वैविध्य की दृष्टि से संक्षेप में वर्गीकरण इन शीर्षकों में व्यक्त किया जा सकता है–1. सामाजिक 2. जीवन दर्शन संबंधी, 3. ऐतिहासिक, 4. स्थानीय, 5. नीति उपदेश प्रधान, 6. हास्य व्यंग्य प्रधान, 7. कृषि वर्षा संबंधी इत्यादि।

कुमाउनी कहावतों की मुख्य विशेषता उनमें निहित लोक पारंपरिक आख्यान तथा कथातत्व हैं। सूत्रबद्धता, लाक्षणिकता, व्यंग्यार्थ सजीवता, सत्यानुभूति तथा चुटीलापन कुमाउनी कहावतों सत्य की साक्षात सूक्तियों के रूप में इन्हें साहित्य तथा भाषा की विलक्षण विधा माना जाता है। यहां कुछ कुमाउनी कहावतें प्रस्तुत हैं–

1. आंखों बटी आंसु ऊनि घुना बटि नी ऊना (आंखों से आंसू निकलते हैं घुटनों से नहीं)।
2. म्यल देखण बागस्यर दयाप्त देखण जागस्यर (मेला देखने बागेश्वर, देवता देखने जागेश्वर जाइए)।
3. कुनव के देखण मुनव देखण (कुंडली क्या देखते हो माथा देखिए)।
4. जो गौं जाण नै वीक बाट् के पुछण, तापि घाम के तापण (जिस गांव जाना नहीं उसका रास्ता क्या पूछना तपती घाम में क्या तापना)।
5. जोगिका स्यापाका कैं घर नि हुन (जोगी और सांप का कोई घर नहीं होता)।
6. जैक ज्वे नै वीक क्वे नै (जिसकी पत्नी नहीं, उसका कोई नहीं)।
7. भैंसक सींग भैंस कै भारि नि हुन (भैंस का सींग भैंस को भारी नहीं होता)।
8. खत्याड़िक साग गंगोलिक बाघ (खत्याड़ी की सब्जी और गंगोलीहाट का बाघ प्रसिद्ध है)।
9. कुट-पिसण में रै ग्याय ब्याकरण भुलि ग्याय (कूटने पीसने में रह गया विवाह करना भूल गया)
10. पूरबिक बादलक न द्यो न पाणि (पूरब के बादल से पानी नहीं बरसता)।
11. त्यर पैलाग म्येरि कथप (तुम्हारा प्रणाम मेरे लिए पता नहीं कहां)।
12. स्यापाक पुथील पेटबटी कुरबुरैल (सांप के बच्चे पेट से ही चितकबरे होते हैं)।
13. सुन ख्वट आपण दोष परखणि कैं (सोना खोटा अपना, परखने वाले को दोष)।
14. ढको द्वार हिटो हरद्वार (द्वार ढको, हरद्वार चलो)।
15. सौद बिगाणो बणि मसाल बिगाड़ो धणि (बनिया सौदा बिगाड़ देता है, धनिया मसाले को बिगाड़ देता है)।
16. खाई के जाणूं भुखै बात (खाया पिया आदमी भूखे पेट वाले के दर्द को कहां जानता है)।
17. मुश बिराउ जस खेल (चूहे बिल्ली जैसा खेल)।
18. नई गौं पद्यानै पधान (नए गांव के सभी प्रधान)।
19. सीप न शउर आंगण ट्यड़ (नाच न जाने आंगन टेढ़ा)।
20. गोरूल आपुहैं चरण, बाछल आपुहैं (गाय का अपना चरना, बछड़े का अपना)।
21. आंख खुलण (आंख खुलना)।
22. पापड़ बेलण (पापड़ बेलना)।
23. गाड़ बगूण (नदी में बहा देना)।
24. खून पसिण एक करण (खून पसीना एक करना)।
25. सिरन्ताज हुण (कुशल होना)।
26. सान करण (इशारा करना)।
27. छव पुजण (छल पूजना)।
28. धात लगूण (आवाज लगाना)।
29. घुन च्यूनि एक लगूण (घुटना तथा ठुड्डी एक साथ मिलाना)।
30. बौज्यूक ब्याहुण (पिता का विवाह होना)।
31. हींगक बणि हुण (हींग का बनिया होना)।
32. सौंकार हुण (साहूकार होना)।
33. जोगिक हठ हुण (जोगी का हठ होना)।
34. यकार सांस लागण (एक ही सांस में चलना)।

35. जागर लगूण (जाग्रत करना)।
36. भागियाक भच्चैक (भाग्य की ठोकरें)।
37. बिख झाणण (विष झाड़ना)।
38. कांस्क टुपर हुण (कांस की तरह फूलकर सफेद होना)।
39. पिनाउक पातक पाणि हुण (पिनालू के पत्ते का पानी होना)।
40. चूख चटूण (खट्टा रस चटाना)।
41. हाथ पिल करण (हाथ पीले करना)।
42. ख्वर फुटण (सिर फूटना)।
43. जन्यो छुङण (जनेऊ छूना)।
44. गंग नाण (गंगा नहाना)।
45. छालि घाम लगूण (बेइज्जत करना)।

संदर्भ-

1. बद्रीदत्त पाण्डे, कुमाऊं का इतिहास, पृ. 01। **2.** प्रोफेसर डी. एस. पोखरिया, लोक संस्कृति के विविध आयाम, मध्य हिमालय के संदर्भ में, पृ.1-2। **3.** डॉ. शेरसिंह बिष्ट, उत्तरांचल भाषा एवं साहित्य का संदर्भ, पृ. 39-40। **4.** डॉ. गोविन्द चातक, भारतीय लोक संस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय, पृ. 38-39। **5.** डॉ. हेमचंद्र दुबे, कुमाउनी कहावतों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ.9। 6. वही, पृष्ठ (बी)। **7.** डॉ. नरेश कुमार, हिन्दी व्युत्पत्ति कोश, पृ. 48। **8.** वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ.153। **9.** सचदेवा, ऑक्सफोर्ड इंगलिश हिन्दी डिक्शनरी, पृ. 475। **10.** डॉ. केशवदत्त रूवाली, मानक हिन्दी ज्ञान, पृ.**70**। **11.** डॉ. देवसिंह पोखरिया, लोक संस्कृति के विविध आयाम, पृ.75।

❑❑

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, पोस्ट- गरुड़,
जनपद- बागेश्वर, उत्तराखंड- 263641
मो. 9411597209

पांच-छह साल से विवाहित और एक लड़के का पिता होते हुए भी लंदन में रहते हुए मैंने खुद को कुंआरा बताने में संकोच नहीं किया था। एक वृद्ध परिचित महिला चाहती थीं कि मैं शादी करूं मैंने उन्हें पत्र लिखा। माँ जिस तरह बेटे की चिंता रखती है, वैसे ही आप मेरी चिंता रखती हैं। मुझे ब्याह करना चाहिए, इसी ख्याल से आप मेरा परिचय युवतियों से कराती हैं। मैं इस प्रेम के योग्य नहीं हूं। मेरा ब्याह बचपन में हो चुका है आपसे यह छिपाने का मुझे दुख है। पर अब भगवान ने सच कह देने की हिम्मत दी है। इस पत्र के बाद मुझे माफी मिली और सत्य भी।

दक्षिण अफ्रीका में दादा अब्दुल्ला के केस में दोनों पक्ष आपस में रिश्तेदार थे। मैंने देख लिया था कि वकीलों का खर्च इतना बढ़ता जा रहा था कि दोनों पक्ष बरबाद हो जाते। मैंने समझौते के लिए मेहनत की। दूसरे पक्ष के तैयब सेठ मान गए। पंचों के सामने दादा अब्दुल्ला जीते। पर जो राशि तय हुई वह तैयब सेठ एक साथ दे ही नहीं सकते थे। दादा अब्दुल्ला ने उन्हें लंबी मोहलत दी। दोनों पक्षों को प्रसन्नता हुई और मैंने सच्ची वकालत सीखी। इसके बाद बीस साल की वकालत का मेरा अधिकांश समय आपस में सुलह कराने में बीता। मैंने कुछ खोया नहीं। आत्मा और सत्य तो खोए ही नहीं।

कस्तूर बाई का ऑपरेशन हुआ था। मैंने उन्हें नमक और दाल छोड़ने के लिए मनाना शुरू किया। पर वह मानी नहीं। उन्होंने मुझसे कहा 'दाल और नमक छोड़ने को तो कोई आपसे कहे, तो आप भी न छोड़ेंगे।' मैंने कहा 'तुम्हारा विचार गलत है, मैं एक साल के लिए दाल और नमक दोनों छोड़ रहा हूं, तुम भले ही ना छोड़ो।' पत्नी को बहुत पछतावा हुआ। 'अब मैं दाल और नमक नहीं खाऊंगी, लेकिन आप अपनी बात लौटा लें।' 'मैं ली हुई प्रतिज्ञा वापस नहीं ले सकूंगा, मैं इसे सत्याग्रह का नाम देना चाहता हूं और इसको जीवन की मधुर स्मृतियों में से एक मानता हूं' ***—महात्मा गांधी***

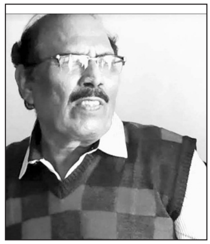

बिहार का महापर्व 'छठ'

राजेंद्र परदेसी

छठ बिहार का न केवल धार्मिक पर्व है, अपितु यह बिहारी लोक जीवन का सांस्कृतिक महापर्व भी है। यह पर्व साल में दो बार मनाया जाता है। चैत माह में मनाने वाले को चैती छठ, तो कार्तिक माह के पर्व को कार्तिकी छठ कहा जाता है। जहां चैती छठ कठिन साधक ही मनाते हैं वहीं कार्तिकी छठ में लगभग सभी की भागीदारी होती है। चैत्र एवं कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की षष्ठी या छठी तिथि को आयोजित होने के कारण इसकी संज्ञा छठ हो गई है। इस व्रत या पर्व का सूर्य से संबंध होने के कारण इसे सूर्यषष्ठीव्रत भी कहा जाता है और लोक में इसे 'छट्ठी मैया' पर्व के रूप में स्मरण किया जाता है। ज्ञातव्य है कि स्कन्दपुराण, पद्मपुराण आदि विभिन्न पुराण ग्रंथों में सूर्य और षष्ठीमाता- दोनों को ग्रहों और रोगों के निवारण से सम्बद्ध माना गया है। षष्ठी माता तो विशेषतया बालग्रह के दुष्प्रभाव की विनाशिका के रूप में पूजी जाती है। सूर्य तो सकल आरोग्य के प्रत्यक्ष अधिष्ठाता देवता हैं ही, कहा गया है– *आरोग्यं भास्करदिच्छेत् धनमिच्छेद् हुताशनात्। ज्ञानभ्य शंकरादिच्छेत मुक्तिमिच्छेद् जनार्दनात्।।* अर्थात् सूर्य से आरोग्य की कामना करें और अग्नि से धन की, शिवजी से ज्ञान की कामना करनी चाहिए, तो विष्णु से मुक्ति की। यही कारण है कि छठ पर्व के अवसर पर सूर्य और षष्ठी माता की एक साथ पूजा की जाती है एवं गीत भी गाए जाते हैं। ज्ञातव्य है कि स्त्रियों के कंठों से गीत तो छठी मैया के ही अनुनादित होते हैं, किन्तु अर्घ्य सूर्य को दिया जाता है। प्रसिद्ध 'आदित्यहृदयस्तोत्र' में सूर्य को अर्घ्य देने का मंत्र इस प्रका है– एहि सूर्य सहस्त्रांशो तेजोराशे जगत्पते। अनुकम्पय मां देव गृहाणार्घ्य नमोस्तु ते।। सूर्य आरोग्य के देवता होने के साथ ही निर्धनता निवारण भी करते हैं। 'आदित्यहृदयस्तोत्र' में ही कहा गया है– आदित्याय नमस्कारं ये कुर्वन्ति दिने दिने। जन्मारन्तसहस्रेषु दारिद्रयं नोपजायते। अर्थात् जो प्रतिदिन सूर्य को नमस्कार करता है, वह हजार जन्मों तक कभी दरिद्र नहीं होता।

प्राचीन मूर्तिकला में सूर्य की वेशभूषा पारसी शैली में अंकित मिलती है– पैरों में लम्बी बूट और सिर पर टोप जैसा शिरस्राण। उनके रथ में सात घोड़े जुते रहते हैं और जानुविहीन पंगु अरुण उनके रथ के सारथी हैं। भारतीय उपासना पद्धति में सूर्य को शिव का प्रतिरूप भी माना गया है। 'आदित्यहृदयस्तोत्र' में कहा गया है– *आदित्यं च शिवं विद्याच्छिवमादित्यरूपिणम्। उभयोरन्तरं नास्ति आदित्यस्य शिवस्य च।।* अर्थात् शिव ही आदित्य हैं और आदित्य ही शिव, दोनों में कोई अंतर नहीं है। इस प्रकार आरोग्य धन तथा ज्ञान के प्रदाता सूर्य एक ओर यदि कुसुमादपि कोमल देवता हैं, तो दूसरी ओर वज्रादपि कठोर। अपने भक्तों के प्रति वह जहां सहज दयालु रहते हैं, वहीं अपने अपराधकर्त्ताओं को भयंकर दंड भी देते हैं। सूर्य के रुष्ट होने से कुष्ठ रोग से आक्रांत होने की आशंका रहती है अर्थात् सूर्य के प्रति अपराध करने वाले कोढ़ से ग्रस्त हो जाते हैं। इसीलिए सूर्यष्ठी व्रत करने वाले बड़े नियम के साथ सारा पूजन कार्य सम्पन्न करते हैं।

भारत में बिहार ही एक ऐसा राज्य है, जहां विशेष रूप से सूर्य पूजा या छठ व्रत की आयोजना की जाती है। अन्य राज्यों में भी अगर कहीं छठ पर्व है, तो प्रायः वहां बसे बिहार मूल के व्यक्ति ही उसका आयोजन करते हैं। बिहार में दो सूर्यमंदिर अधिक प्रसिद्ध हैं- एक तो प्राचीन गया (अब औरंगाबाद) जिले का 'देव' नामक स्थान और दूसरा पटना जिले का 'औंगारी' नाम का स्थान। कहते हैं कि यहां सूर्य पूजन करने और छठ का अर्घ्यदान करने से गलित कुष्ठ के रोगी का शरीर भी कंचन की तरह दमकने लगता है। संसार की समस्त विकृतियों को प्रकृति में परिणत करने वाले सूर्य प्रत्यक्षतः विज्ञान देवता हैं।

बिहार की राजधानी पटना में छठव्रत के अवसर पर सूर्यपूजा की परंपरा अधिक प्रख्यात है। छठ के अवसर पर पटना की सजावट दीपावली से भी अधिक संपन्नता के साथ की जाती है। यों, बिहार के भागलपुर, मुंगेर, दुमका, देवघर, वैशाली, मुजफ्फरपुर, छपरा, सीतामढ़ी आदि जिलों में छठ का त्यौहार अधिक लोकप्रिय है। पटना में दीपमाला की आयोजना होती है, जगह-जगह मंदिरों के प्रतीक पटमंडप भी बनाए जाते हैं और उन्हें विभिन्न झांकियों से अलंकृत किया जाता है। झांकियों में अर्घ्यदान तथा सूर्यपूजन से सम्बद्ध कथाओं को आग्रहपूर्वक प्रतिरूपित किया जाता है। गंगा के घाटों, सड़कों, नालियों, गलियों की सफाई बड़ी तत्परता और सावधानी से की जाती है, ताकि पर्व मनाने वालों को सड़कों पर चलने में किसी प्रकार की अपवित्रता का बोध न हो।

चैत्र-कार्तिक शुक्ल चतुर्थी के दिन से ही से छठव्रत करने वाले संयम से रहते हैं। इसमें वे स्नान-ध्यान करके कद्दू और अरवा चावल के भात का भोजन करते हैं। इसलिए उस दिन को 'कद्यूआभात' कहते हैं। दूसरे दिन, यानी पंचमी को 'खड़ना' होता है। इसमें बहुत ही पवित्रता और विधि-विधान के साथ घर में सूर्य की पूजा की जाती है और उन्हें रोटी, गुड़ और दूध से बनी रसियां (खीर का भेद), चावल के आटे का लड्डू आदि नैवेद्य के रूप में अर्पित किए जाते हैं। पर्व करने वाले स्त्री-पुरुष एकांत भाव से घर में बंद होकर सूर्य के लिए यह नैवेद्य निवेदित करते हैं और स्वयं भी प्रसाद ग्रहण करते हैं। प्रसाद में यदि कंकड़, धान या केश आदि मिल जाते हैं, या परबैता का नाम लेकर कोई टोक देता है तो परबैता (पर्व करने वाले) उस भोजने को उसी क्षण त्याग देते हैं। इस अवसर पर एक विशेष प्रकार से ढोल बजाया जाता है। यह वादन केवल छठ के 'खड़ना' के लिए ही स्वीकृत है। संध्या में स्वजन-परिजन, इष्ट-मित्र, बंधु-बांधव परबैता या परबैतिन के घर पहुंचते हैं और खड़ना का प्रसाद ग्रहण करते हैं। लगता है, 'खड़ना' शब्द का विकास 'खण्ड-ना' से हुआ होगा जिससे सूर्य की अखंड उपासना का बोध होता है। इस पर्व में जो लोकगीत स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं, उनमें छठी मैया और सूर्य की पूजा के फल और अपूजा के दोषों की चर्चा रहती है।

षष्ठी के दिन संध्या को अस्त होते समय प्रथम अर्घ्य दिया जाता है और सप्तमी को प्रातःकाल सूर्योदय के समय दूसरा अर्घ्य दिया जाता है। इसमें परबैता या परबैतिन (पर्व करनेवाला पुरुष या पर्व करने वाली स्त्री) गंगा नदी या अपने-अपने क्षेत्रों की नदियों या तालाबों-पोखरों में स्नान करके भीगे कपड़ों में, कमर भर जल में खड़े होते हैं और उनके हाथों में बांस का बना सूप या डाला (छैंटा) रखा जाता है। सूप या डाला रखने के पूर्व परबैतिन के हाथ में चावल का अरिपन (ऐंपक) और सिंदूर लगा दिया जाता है। परबैतिन की सहायिका और सहायक भी बड़े नेम-धरम से रहते हैं। परबैतिनें जब सूप लेकर सूर्याभिमुख पंक्तिबद्ध खड़ी हो जाती हैं, तब भक्त लोग स्नान करके पहले दूध का अर्घ्य उस सूप पर डालते हैं, उसके बाद जल का।

नैवेद्य में आटे और गुड़ का बना ठेकुआ, कसार (चावल के चूर्ण का बना), चना, ईख, मूली, नारियल तथा सभी प्रकार के मौसमी फल स्वीकृत हैं। सूप पर सिंदूर के पांच टीके लगाए जाते हैं तथा अरता का पत्ता चिपकाया जाता है। लाल धागे की विशेष प्रकार से बनी 'बल्दी' भी अर्पित की जाती है, जिसे बाद में प्रसाद के रूप में पहना जाता है। केले के घौद अर्पित करने का वर्णन एक लोकगीत में इस प्रकार किया गया है–

कैला जे फरयु घओद से/ ऊपर सुगा मंडराय/

मारबो रे सुगवा धनुख से/ सुगा गिरे मुरछाय/ सुगनी जे रोयेले बियोग से/ आदित होइ ना सहाय। अर्थात सूर्य के लिए छठव्रत में निवेदित केले के घौद पर सुगा मंडराया करता है, तो भक्त उसे धनुष से मार गिराते हैं। विमूर्च्छित सुग्गे को देखकर सुगनी वियोग से रोने लगती है और सूर्य भगवान से सुग्गे की सहायता के लिए प्रार्थना करती है।

एक दूसरे लोकगीत में दो भावपक्ष हैं। प्रथम तो यह कि नैवेद्य के लिए विभिन्न प्रकार के फल नहीं मिलते, क्योंकि कुंजड़े की दुकान अभी नहीं खुली; और दूसरा पक्ष यह कि अर्घ्य का समय हो गया, फिर भी सूर्य नहीं उगे, पता नहीं यह कैसा संयोग है। लोकगीत मूलरूप से इस प्रकार है– *नीबू लाबे गेली कुजड़ा दुकनिया/ नीबुओ न मिलल कौन विसंजोगिया/ उगहो सूरज देव अरग के बेरिया/ सूरजोन उग लिए नि कौन विसंजोगिया।* यहां नींबू की जगह अन्य विभिन्न फलों के नाम लेकर पद की पंक्तियों को दुहराया जाता है। एक लोकगीत में छठी मैया के आने और विदा होने, अर्थात् आवाहन तथा विसर्जन की चर्चा हुई है, साथ ही सूर्य को अर्घ्य देने की भी बात भी आई है। गीत इस प्रकार है– *सांझ छ्ठ्ठी देवी गौने अइली/ बिहने छ्ठ्ठी देवी विदा ले ली/ हवां गइली-/ हम गइली कओन बाबू के अंगना/ जोड़ा सूप अरग परै तहंमा/ जोड़ा नारियर अरग परै तहंमा।।* 'कओन' के स्थान पर परिवार के सदस्यों के नाम, जैसे आगम बाबू या रघुनन्दन बाबू आदि लिए जाते हैं। गीत गाने वाली स्त्रियां अपने-अपने ढंग से परिवार के सदस्यों के नाम लेती हैं। जहां नदी-तालाब नहीं हैं वहां नदी या तालाब का प्रतिरूप बनाकर सूर्य को अर्घ्यदान किया जाता है या फिर तुलसी चौतरे पर अर्घ्यदान की औपचारिकता पूरी की जाती है।

प्रथम अर्घ्य के दिन परबैता या परबैतिने अखंड उपवास करते हैं और द्वितीय अर्घ्य के दिन अर्घ्यदान और प्रसाद वितरण संपन्न हो जाने के बाद पारण का विधान (अन्न जल-ग्रहण) पूरा किया जाता है।

कुछ परबैता-परबैतिने तो अपने घर से नदी तट तक पदे-पदे साष्टांग दंडवत करती हुई जाती हैं। ऐसी मनौती तभी मानी जाती है, जब किसी असाध्य रोग या महान अनिष्ट से उसके परिवार के किसी सदस्य को सूर्य-कृपा से त्राण मिला होता है। कष्ट में पड़े हुए अनेक लोग कष्ट से मुक्ति के लिए छठ के अवसर पर अर्घ्यदान के निमित्त सूप या डाला गछते हैं, यानी सूप या डाला चढ़ाने की मनौती मानते हैं, इसे 'गछना' कहते हैं।

हे सूरज बाबा यदि मेरा लड़का या अमुक स्वस्थ हो जाएगा, तो मैं डाला या सूप चढ़ाऊंगी। ऐसा बोलकर ही गछने की विधि पूरी की जाती है। परबैता-परबैतिन जिस नए कपड़े को पहन कर जल में खड़े होते हैं, अर्घ्य के बाद उस गीले कपड़े से शरीर को पोंछने से समस्त कायिक रोग दूर हो जाते हैं, ऐसी मान्यता है। परबैता-परबैतिन को प्रणाम कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करके अन्य लोग अपने को धन्य मानते हैं।

छठ पर्व पर पटना में गंगा नदी के विभिन्न घाटों की मनोरम सजावट देखने योग्य होती है। अर्घ्यदान के समय पावन और अपूर्व दृश्य देखने घाटों और नदी के बीच नौकाओं की रंग-बिरंगे बल्बों की कलापूर्ण सज्जा बहुत ही नयनाभिराम होती है। बिहार में पटना का छठ-उत्सव नामी है, जिसे देखने दूर-दूर के राज्यों से लोग पधारते हैं। अनेक रंगों और डिजाइनों या आकल्पनों के परिधान में सजे दर्शक नर-नारी, बाल-बच्चे तथा बड़े-बूढ़े बहिरन्तः उल्लसित और तरंगित से दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार बिहार का छठ पर्व बिहार की न केवल धार्मिक चेतना का साक्षी है, अपितु वह उसके सांस्कृतिक उत्कर्ष का भी कलावरेण्य परिचय उपन्यस्त करता है।

❑❑

136, मयूर विहार, फरीदीनगर,
लखनऊ-226015
मो. 9415045584

*[वस्तुतः यह सूर्य-पूजा ही है, जो षष्ठी या छठ तिथि को होती है। लोक ने षष्ठी या छठ को एक अलग देवी के रूप में मान लिया। जैसे राजस्थान में गौरी उपासना की तृतीया या तीज को और गणेश-चन्द्रमा की उपासना तिथि चतुर्थी या चौथ को एक अलग देवी मान लिया गया है और इन देवियों के मंदिर भी बन गए हैं। **-सम्पादक**]*

मोको कहा ढूंढे रे बन्दे

सदियों से ये स्वर भारतीय साहित्य, संगीत और भक्ति की त्रिवेणी में गूंज रहा है। यह आवाज हर आत्मा के भीतर जैसे पुकार-पुकार कर लुभाती है। किसके हैं ये स्वर, किसकी है यह वाणी। इस शब्द त्रिवेणी में जिसने भी गोते लगाए हैं उसने उस अनन्त सत्ता का साक्षात्कार किया हैं जिसे लोग राम, कृष्ण, रहीम और अल्लाह के नाम से जानते हैं या ईश्वर के नाम से पुकारते हैं। एक निरक्षर भट्टाचार्य के हृदय से निकला अनहद नाद जिसने बड़े-बड़े विद्वानों को चुनौती दी आज भी इतिहास की गलियों में गूंज रहा है, यह अजर-अमर स्वर–

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूं सब/ मेरी बिलगि तिबलगि बिलगाई हो/ कोई कहो कबीर कोई कहो रांम राई हो/ नां हम बार बूढ नाहीं हम, नां हमरं बिलकाई हो/ पठए न जांऊ अरबा नहीं पांऊ, सहजि रहू हरिआई हो/ बोढन हमरे एक पछेबरा, लोक बोलें इकताई हो/ जुलहै तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनी दस ढांई हो/ त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल, तब हमरी नांउ रांम राई हो/ जग मैं देखों जग न देखे मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो। पहली बार इस स्वर ने ईश्वर से एकाकार होने की अलख कब जगाई। कब इस अद्‌भुत आत्मा ने पृथ्वी पर अवतार लिया। इसकी अनन्त यात्रा से हम अपरिचित नहीं हैं पर एक बार क्या ठिठक कर इस पावन स्वर से एकाकार होने का जी नहीं होता है?

आइए! हम इस महान आत्मा के साथ इसके जन्म से साथ चलते हैं। इसका आत्मा का नाम है कबीर। कहां है कबीर? कहा उसने, मोको कहा ढूंढेरे बन्दे, में मैं तो तेरे पास में। तो यहीं कहीं होगा वह, आइए! चलें, ढूंढे इसे। एक बार फिर हों कबीर के जीवन से एकाकार, एक बार फिर करें उनका साक्षात्कार। *चौदह सौ पचपन गए/ चन्द्रवार इक ठाठ ठये/ जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रकट भये/ घन गरजे दामिनि दमके/ बूंदें बरसे झर लाग गए लहर तालाब में कमल खिले/ तहं कबीर भानु प्रकट भए।*

कबीर के जन्म के विषय में कई मत हैं क्योंकि मुंह से कहे गए साहित्य का स्वर समय की कंदराओं में गूंजते गूंजते, लोकमानस की वाणियों में ढलते-ढलते, कभी-कभी बदल भी जाता है। ऐसे महान कवि अपने बारे में बहुत ही कम बताते हैं। वे बहुत ही कम अपने जीवन वृत्तांत का वर्णन करते हैं। सरस्वती के इस पुजारियों ने अपने अहं का चौला उतार फेंका था, वे संत थे, परम साधक भक्त थे और थे कागज और कलम के सच्चे पुजारी जिन्होंने अपनी अल्हड़ फकीरी में 'मसि कागद' को बिना छुए ही अनगिनत काव्य लिख दिए किन्तु अपने बारे में जो सदा मौन ही रहे। उनके लिखे काव्य में चिराग लेकर ढूंढने पर भी उनकी स्वयं की गाथा ढूंढ पाना असंभव सा है। कुछेक शब्दों को लेकर जो अनुमानों के महल खड़े किए गए हैं उसी को आधार माना जा सकता है। 'ज्यों गल छोडि कबीर' के एक विश्लेषण से कहा जा सकता है कि काशी निवासी कबीर का जन्म समय बहुत शोध के बाद भी स्पष्ट नहीं है। उनका जन्म कबीर कसौटी में संवत 1455, भक्ति सुधा बिन्दु स्वाद में 1451 और कबीर परिचय में 1457 संवत माना गया है। उन्होंने

स्वयं के बारे में लगभग मौन रहकर सम्पूर्ण काव्य रचा है। बहरहाल कबीर का जन्म अधिकतर लोग चौदह सौ पचपन जेठ सुदी पूर्णिमा को मानते हैं।

कबीर जुलाहे थे यह कबीर ने कई बार लिखा है-
1. तू बामन मैं काशी का जुलाहा चीन्हिन मोर गियाना।
2. जात जुलाहा मति को धीरे, हरि हरि गुण रमे कबीर।
3. जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी।
4. तनता बुनता तज्या कबीर, राम नाम लिख लिया सरीर।
यह सवाल भी अक्सर उठाया गया है कि कबीर मुसलमान थे या हिन्दू। उन्होंने इस पर बहुत लिखा पर यह स्पष्ट नहीं हो सका कि वे जन्मना, कर्मणा, वचना क्या थे हिन्दू या मुसलमान, जुलाहे या फारी या इन सबसे परे एक साधारण इन्सान।

कबीर ने अपनी मां के बारे में जब भी लिखा ऐसा प्रतीत होता है कि वे कबीर से बड़ी दुखी थीं। कबीर से कहें या कबीर की फक्कड़ी से। *मुसि मुसि देखे कबीर की माई/ ए तारिक कैसे जीवहिं रघुराई/ तनना बुनना सब तजियो कबीर/ हरि का नाम लिख लियो शरीर/ जब लग भरों नली का बेह/ तब लग टूटे राम सनेह/ ए लरिका क्यूं जीवै खुदाई/ कह कबीर सुनहु री माई/ पूरण हारा त्रिभुवन राई।* कैसे इस बालक का गुजारा होगा जिसने अपने पैतृक धन्धे जुलाहे के ताना बाना बुनने को तज कर शरीर पर केवल हरि का नाम लिख लिया। *निति उठि कोरी भागरि आने लीपत जीउ गइयो/ ताना बाना कछु ना सूझे, हरि हरि रस लिपटिओ/ हमारे कुल कउने राम कहिओ/ जब ति माला लई निपूते तब ते सुख न भइयो।*

उनकी प्रभु भक्ति से मां के साथ साथ पत्नी भी दुखी थी जिसका वर्णन कबीर ने खुद किया है। *मेरी बहुरिया का धनिया नाउ/ ले राख्यो रामजनिया नाउ/ इन मुण्डियन मेरा घर धुंधरावा/ बिटवही राम रमौवा लावा।* कबीर की पत्नी का नाम धनिया था या लोई यह भी अस्पष्ट है। उनके एक पुत्र और पुत्री थी यह भी कई जगह कहा गया है। एक पद में वे कहते हैं– *टूटे लागे निखुरी पानी, दुआर उबरि झिलका बही कान कूच/ बिचारे फूए फाल, इहा मुण्डिया सिर चढ़िवौ काल/ दुहु मुण्डिया से गलो द्रव खोई/ आदत जात नाक सर होई/ तुरी नारी की छोडी बातां, राम नाम वाका अनुराता/ लरकी लरिकन खैबी नाहीं, मुण्डिआ मनुदिन धायी जाहि/ मुनि अंधली लोई बेपीर, इन्ही मुण्डियन भजि सरन कबीर।*

कबीर के जन्म के साथ कई कथाएं जुड़ी हैं। एक कथा यह भी है कि भूल से स्वामी रामानन्द ने एक विधवा ब्राह्मणी को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था। परिणाम हुआ कबीर का जन्म और लोक लाज के डर से वह उन्हें त्याग कर लहर तालाब के समीप छोड़ गई थी। बाद में इसे नीमा और नीरू नामक जुलाहे ने पाल पोस कर बड़ा किया।

वे मुसलमान जुलाहे थे या हिन्दू इस पर भी कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने स्वयं कई जगह अपने को कोरी कहा है। कोरी हिन्दु जुलाहे कहे जाते हैं। *हरि को नाम अभै पद दाता कहे कबीरा कोयी/ कोरी को काहू मरम न जाना/ सब जग आन तनायो ताना/ कहत कबीर कारगह तोरी/ सूने सून मिलाए कोरी।* कहा जा सकता है कि कबीर न हिन्दू न मुसलमान थे। वे बौद्ध धर्म से भी प्रभावित दिखाई देते हैं तो उन पर वैष्णव मत की छाया भी प्रतीत होती है। नाथ सम्प्रदाय और सूफी मत का प्रभाव भी उन पर दिखाई देता है।

कबीर कहते हैं– *ता साहब के लागौ साथा/ दुख सुख मेटि रहयों अनाथा/ जा दसरथ धरि औतर आवा/ ना लकां का राव सतावा। फिर उन्होंने सभी विवादों को अस्वीकार करते हुए कह दिया कि जाति पांति पूछे नहीं कोई हरि को भजे सो हरि का होई। एक जगह कबीर कहते हैं–*

कबीर ने अपने पुत्र-पुत्री के सम्बन्ध में भी एकाध जगह उल्लेख किया है। बूडा बंस कबीर का, उपजिओ पूत कमाल, हरि का सुमिरन छांड़िके घर ले जाया माल। कबीर की पुत्री का नाम कमाली था यह भी कबीर काव्य में कई जगह उल्लेख हुआ है। कबीर को ज्ञान कहां से प्राप्त हुआ।

उन्होंने किसी पाठशाला में तो अध्ययन किया नहीं। कबीर का पारम्परिक शिक्षा पद्धति में यकीन भी नहीं था, उन्होंने खुद ही कहा है– *पौथी पढ़ पढ़ जग मुआ पण्डित भया न कोई।* कबीर ने तो संसार के अज्ञान और अपूर्णता को देखकर वास्तविक सत्य और ज्ञान

अर्जित किया था। वे बहुश्रुत थे। अपनी फकीरी और मस्ती के दौर में उन्होंने देशाटन और जीवन के अनुभवों से ज्ञान प्राप्त किया था। फिर भी उन्होंने कई जगह रामानन्द को अपना गरु बताया है।

कबीर रामानन्द का/ सतगुरू मिले सहाय/ जग में जुगति अनूप है/ सोई दई बताय। लोगों ने शेख तकी और पीताम्बर पीर को भी उनका गुरु माना है।

क्रांतिकारी कबीर

कबीर उस समय के समाज में रहते थे जहां मनुष्य वर्गभेद की चक्की में पिस रहा था। कुरीतियां चारों तरफ फैली थीं। धर्म अन्धविश्वासों की चक्की में पिस रहा था और मानवता खतरे में थी। ऐसे में कबीर ने शंखनाद किया। कबिरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ। कबीर ने वर्ण भेद, कठमुल्लापन, सामन्तवाद और रूढ़ियों के खिलाफ जमकर आवाज उठाई– *मेरा तेरा मनुआ कैसे एक होई/ मैं कहता हों आंखिन देखी, तू कागद की लेखी/ मैं कहता सुरझावन हारी तू राख्यो उलझाई रे/ मैं कहता तू जागत रहियो तू कहता है सोई रे/ मैं कहता निर्मोही रहियो तू जाता है मोहि रे/ जुगन जुगन समुझावत हारे कहि मानत ना कोई रे।*

हिन्दू मुसलमान दोनों की ही बुराइयों पर प्रहार करते हुए उन्होंने सभी को एक समान और एक ही ईश्वर की संतान बताया– *ऐसो भरम विगुरचन चारी/ वेद कितेब दीन और दोखज को पुरूषा को नारी/ माटी के घट साज सजाया, नादे बिन्दु समाना/ घट दिन से का नाम धरहुगे अहमक खोजत मुलाना/ एकै तुचा हाड़मल मूत्रा, एक रूधिर एक गूदा/ एक बूंद सौ सृष्टि कियो हैं, को ब्राह्मण को सूदा/ रज गुन ब्रह्म तम गुण संकर, सत गुण हरि सोई/ कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरक न कोई।*

वाणी उनकी हर आडम्बर पर चली है। उन्होंने हर भेदभाव पर, हर कुरीति पर निर्भीक कथन किया– *अलह राम जिऊं तेरे नांई/ बंदे ऊपरि मिहर करे मेरे सांई/ क्या ले माटी भुंई सूं मारे क्या जल देह न्हवायें/ जार करे मसकीन सतावें, गुन ही रहें छिपाये/ क्या तू जू जप मंजन कीयें, क्या मसीति सिर नांय/ बामण ग्यारसि करै चौबीसौ, काजी महरम जांन/ ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि मांहि समान/ जौर खुदाई मसीति बसत है और मुलिक किस केरा/ तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु मैं किनहूं न हेरा/ पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकामो/ दिल ही खोजि दिलै दिल, भींतरि, इहां राम रहिमाना/ जेती औरति मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा। कबीर पंगुड़ा अलहु रांम का, हरि गुर पीर हमारा।* आडम्बरों के विरोध में कबीर का स्वर जब मुखरित होता है तो कोई तर्क उनके सामने नहीं ठहरता है, परन्तु कोई बिरला ही उनका दोस्त बनता है- *भाई रे बिरले दोस्त कबीर के यहु तत बार मांसो कहिए।*

–पुष्पा गोस्वामी
'साक्षी गोपाल' 9, गीजगढ़ विहार,
हवा सड़क, सिविल लाइन्स, जयपुर-302019
मो. 9314517236

❑❑

नदी में बहती पिपासु आकाशगंगा
(संदर्भ– उषा प्रियंवदा का उपन्यास नदी)

हिंदी साहित्य कई विमर्शों और साहित्य की विभिन्न शाखाओं को अपने में समेटकर विकसित और फलित हो रहा है। प्रवासी साहित्य भी हिंदी साहित्य रूपी विशाल वट वृक्ष की एक महत्वपूर्ण शाखा है। विदेशों में हिंदी का वर्चस्व बढ़ाने, उसे प्रसिद्धि दिलाने और वैश्विक स्वरूप प्रदान करने में प्रवासी साहित्यकारों की महत्वपूर्ण भूमिका है। वह लेखक संस्कृतियों को निकट लाकर समन्वयवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे सकता है। आर्थिक जगत में वैश्वीकरण की धारणा जिस प्रकार फलीभूत हो रही है, और विश्व गाँव का सपना देखा जाने लगा है तथा सूचना क्रांति इस स्वप्न को साकार करती दिखाई पड़ रही है। उसी प्रकार से साहित्य जगत में भी विश्व में इस प्रकार का नैकट्य लाया जा सकता है। समन्वय सदा से साहित्य का सर्वोत्कृष्ट गुण रहा है। .... आज प्रवासी हिंदी साहित्य से जुड़ी सबसे बड़ी अपेक्षा समन्वय की है[1]।

अमेरिका में उषा प्रियंवदा प्रवासी लेखिकाओं में वरिष्ठ और प्रसिद्ध लेखिका हैं। अपने साहित्य सर्जन के माध्यम से हिंदी साहित्य में आज अग्रणी और सशक्त

लेखिका के रूप में उषा प्रियंवदा का नाम स्थापित है। उषा प्रियंवदा का कथा साहित्य स्त्री केंद्रित रहा है परंतु फिर भी स्त्री विमर्श की शृंखला से थोड़ा हटकर उनका लेखन भिन्न रहा है। उनके लिए यथार्थ ही साहित्य की प्रेरणा बना है। इनके उपन्यास और कहानियाँ इलाहाबाद से अमेरिका तक की यात्रा के दौरान आए विभिन्न छोटे-बड़े पड़ाव हैं। इनका वर्ष 2014 में प्रकाशित 'नदी' उपन्यास भी इसी पड़ाव का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इनका साठ के दशक में लिखा पहला उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें', उस समय की स्त्री के त्याग को परिभाषित करता है। वहीं इक्कीसवीं सदी का नदी उपन्यास भी वर्तमान स्त्री जीवन के त्याग को एक नई परिभाषा में संजोता है। बात दोनों में त्याग की है, परंतु अर्थ और मायने बिल्कुल विपरीत हैं। परिवर्तन संसार का नियम है और इसी परिवर्तन से समाज गतिशील बनता है, यही गतिशीलता साहित्य को यथार्थ के प्रांगण में स्थिरता प्रदान करती है।

नदी की आकाशगंगा भी पचपन खंभे लाल दीवारें की सुषमा से बिल्कुल भिन्न है। सुषमा जहाँ परिवार की जीविका हेतु अपने संपूर्ण जीवन का त्याग उनकी आजीविका बनकर करती है। वही आकाशगंगा अपने जीवन और मुक्ति के लिए त्याग करती है, उस परिवार का जिसने उसका तिरस्कार किया। नदी कहानी है, उस आकाशगंगा की जो नदी की तरह अपने जल में बहती तो है पर उसे अपने ही जल की पिपासा जीवन भर व्यथित कर देती है। जिस प्रकार एक वृक्ष अपने ही फलों को खा नहीं पाता, अपनी ही छांव में विश्राम नहीं कर पाता है। वैसे ही नदी न जाने किस तृष्णा में अनवरत बहती रहती है? और अंत में मिल जाती है क्षार से युक्त समुद्र में अपनी मिठास, अपने अस्तित्व को मिटाते हुए। स्त्री और नदी के जीवन में बहुत साम्य है, स्त्री भी नदी की भांति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए दूसरों के जीवन की तृष्णा मिटाते हुए निरंतर अपना जीवन जीती रहती है। परंतु जब नदी अपने बनाएं किनारों से हटकर उफान भरती है और भटक जाती है, अपने रास्ते से तो वह उच्छृंखल कहलाती है। इस उच्छृंखलता में वह बहा ले जाती है, कई खुशहाल गाँव हरे-भरे खेत और कई जिन्दगियाँ। यही स्त्री जीवन की भी कहानी है, जब भी वह अपने दायरों से निकलकर मुक्ति का मार्ग भटक जाती है तो यही स्वतंत्रता उसकी उच्छृंखलता बन जाती है। इसी उच्छृंखलता में वह बहा ले जाती है, परिवार, बच्चे, स्वयं की अस्मिता और आत्मसम्मान।

नदी की आकाशगंगा का चरित्र भी नदी की भांति बताया गया है। अमेरिका में आकाशगंगा अपने परिवार के साथ खुशहाल जीवन व्यतीत कर रही थी। अपने डॉक्टर पति गगेन्द्र, दो बेटियों और पुत्र भविष्य के साथ वह आदर्श गृहस्थी चला रही थी। परंतु समय सदैव एक समान नहीं रहता है। अपने पाँच वर्षीय पुत्र भविष्य की मृत्यु कैंसर से हो जाने के कारण रूढ़ियों और संकीर्ण मानसिकता का शिक्षित आकाशगंगा का पति पुत्र की मृत्यु का जिम्मेदार उसे ही मानने लगता है। उसे कैंसर आकाशगंगा के परिवार से आनुवांशिक और दूषित रक्तप्रदत लगता है। पुत्र की मृत्यु से आहत आकाशगंगा अपनी बहन के पास दुख कम करने जाती है, परंतु जब लौटती है तो पति पासपोर्ट, वीजा, रुपये-पैसे, बेटियों सहित घर बेचकर अमेरिका से चुपचाप बिना बताए भारत चला जाता है। अपने बिके घर के बाहर न पैसा, न घर, न देश अपना, न लोग अपने, एक युवा स्त्री ठगी-सी खड़ी रह जाती है। वह सोचती है-'इस ठंडे पराए देश में, जहाँ आकर लोग इतना बदल जाते हैं कि उन्हें सही गलत का आभास भी नहीं रहता?'[2] मकान का मालिक अर्जुन सिंह उसे आश्रय देता है। उससे प्राप्त स्नेह और सम्मान आकाशगंगा के दुख में सांत्वना का कार्य करते हैं। इसी स्नेह और सम्मान के आवेग में वह अपने किनारे बदल लेती है और अपना सर्वस्व अर्जुन सिंह को समर्पित कर देती है। अर्जुन सिंह उसे सब सुख-सुविधा उपलब्ध करवाता है और कहता है 'तुझसे कभी जी नहीं भरेगा, मेरी डार्लिंग तेरा चाहे भर जाए।'[3] पर यह संबंध भोग का था तो ज्यादा चलना मुश्किल था। भोग से तृप्त हुआ जाता है, प्रेम से नहीं।

कुछ समय पश्चात आकाशगंगा के जीवन में पुत्र भविष्य का डॉक्टर एरिक आता है। धीरे-धीरे एरिक और आकाशगंगा की नजदीकियां बढ़ने लगती हैं। प्रेम या शारीरिक आकर्षण की भावुकता कहे या अतृप्त

शरीर की आतुरता आकाशगंगा और एरिक के मध्य भी संबंध स्थापित हो जाते हैं। और जब परिवार का, बेटियों का स्मरण आता है तो वह वापस अपने पति और बेटियों के पास एरिक की सहायता से भारत चली जाती है। भारत जाकर सास ससुर और बेटियों से प्राप्त सम्मान व स्नेह तो उसे परिवार की ओर आकृष्ट करता है, परंतु पति का अनदेखा करना, बार-बार उसकी अवमानना करना, उसे बर्दाश्त नहीं होता। परंतु जब उसे पता चलता है कि वह एरिक के बच्चे की माँ बनने वाली है तो वह पुनः अमेरिका लौट आती है। उसे लगता है कि वर्ण संकर के रूप में उसके बच्चे की पहचान हो जाएगी और भारत जैसे देश में इस नाजायज संबंध और संतान को कौन स्वीकार करता? इससे भी कहीं अधिक उसे अपने चरित्र पर खतरा मंडराता दिखाई दे रहा था। अमेरिका आकर वह एक कैंसर पीड़ित प्रवीनजी की पत्नी की देखभाल करती है। और जब उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसके पति से वह विवाह कर लेती है।

इन सबके बीच आकाशगंगा एरिक के बच्चे को जन्म देती है और उसे एक समृद्ध निसंतान दंपत्ति को सौंप देती है। ताकि उसका पालन-पोषण उच्च स्तरीय हो सके। जब आकाशगंगा एरिक के बच्चे को जन्म देने वाली होती है तो प्रवीण की पत्नी उसे समाज की मर्यादा याद दिलाते हुए कहती है कि 'एक विवाहिता स्त्री की परपुरुष से संतान, हमारा समाज अभी भी बहुत संकुचित सोच वाला है। उसे नहीं लगेगा कि तुमने विवाह की पवित्रता का खंडन किया है। और तो और अगर प्रवीणजी को सच्चाई पता चल गई तो उन्हें भी तुम्हारा यहाँ रहना अच्छा नहीं लगेगा।'[4] साथ ही वह यह भी आशा करती है कि उसका पुत्र एक दिन उसे तलाश करता हुआ, उसके पास जरूर आएगा। एक दिन वह बालक उसके पास आता भी है, अपने पुत्र का यह आगमन आकाशगंगा के जीवन में उल्लास भर देता है। क्योंकि वह बालक ल्यूकेमिया से संघर्ष कर और फिर पूर्ण स्वस्थ होकर लौट आया था। आकाशगंगा के जीवन का वह सत्य जिसमें भविष्य उसे छोड़कर हमेशा के लिए चला गया था। वह इस पुत्र स्तव्य के रूप में उसके जीवन का एक नया यथार्थ बनकर उसके समक्ष खड़ा था। अंत में आकाशगंगा अपने बेटे स्तव्य को अपने जीवन की आत्मा-पीड़ा बताती है कि 'मुझे सभी रिश्तों में घाटा ही हुआ। गगन बिहारी ने भी छोड़ दिया, बेटियाँ अलग कर दी और प्रवीण जी? पहले उनकी पत्नी की सेवा की, और फिर बरसों उनकी। पत्नी को कैंसर था, और उन्हें स्वयं लकवा लग गया था। ना पहले पति से कुछ मिला, न प्रवीण जी से। उन्होंने अपनी नयी विल बनायी ही नहीं। यह तो यश की उदारता है कि उसने मुझे घर से बेघर नहीं कर दिया। यहाँ रहने दिया जमीन दी, और कभी बड़ा खर्च आता है तो उसे भी भरता है। पर जाने दो इन बातों से क्या फायदा? मेरी जिंदगी चल रही है, बहुत ज्यादा खर्चे नहीं हैं, ना कोई बड़ी इच्छा- बस, तुम्हें देखने की, तुमसे मिलने की आस में जी रही थी– वह यहाँ आकर तुम ने पूरी कर दी अब आते रहना- तो जिंदगी कट जाएगी।'[5] उपन्यास के अंत में आकाशगंगा की आस सार्थक होती है जब उसका पुत्र उसे कहता है की 'घबराने की कोई बात नहीं है, और अब तुम्हें पाया है, तो जीवन से जाने नहीं दूंगा।'[6] 'तुम नहीं समझती कि तुम्हारे साथ अन्याय हुआ है।'[7] इस तरह आकाशगंगा अपना सही मार्ग निर्धारित कर अपना अस्तित्व अपने पुत्र में पा लेती है।

उषा प्रियंवदा के उपन्यास के पात्र प्रसिद्ध, आदर्शवादी और क्रांतिकारी नहीं होते हैं। वे आम होते हुए भी बेहद खास होते हैं। उनके उपन्यासों की नायिकाएं पतियों के साथ प्रवास पर अमेरिका, यूरोप आदि देशों में गई वे स्त्रियाँ है, जिन्हें ले जाया जाता है, सहगामिनी बनाकर और छोड़ दिया जाता है नियति के भरोसे। इनकी नायिकाएं नियति के साथ कदम से कदम मिलाकर चलती हैं। अपनी नियति को भोगती हैं। उपन्यास के प्रारम्भ में आकाशगंगा भी नियति को स्वीकारने वाली स्त्री है जो जैसे प्रत्यक्ष आया उसके साथ वैसे ही चलने को तैयार रहती है। परंतु जब नियति उसके स्वाभिमान और उसके स्त्रीत्व को चोट पहुंचाती है तो वह अपने लिए वही निश्चित कर लेती है, जो उसे उचित लगता है। 'वह एक लंबी सांस लेती है। एक बार अगर जिंदगी की गाड़ी पटरी पर से उतर जाए तो फिर वापस आना दुरूह ही नहीं, असंभव होता है। यह सब उसके साथ

क्या हो रहा है? वह हरदम सोचती रहती है, या वह अपने साथ होने दे रही है। कैसे बटोरे अपने अस्तित्व के टुकड़ों को अपने आत्मबल को?'[8] प्रवीनजी की पत्नी आकाशगंगा को जीवन में सब को भूल आगे बढ़ने और जीवन जीने के लिए प्रेरित करते हुए कहती है– 'सभी को बार-बार जिंदगी सँवारने के मौके नहीं मिलते। मुझे मिला, और मैंने पूरी कोशिश करी, तुम भी गंगा, अपनी गति पकड़ो, आगे जिओ, मेरी बात मानो; अकेले निर्बंध जिओ। तुम्हें हक है, अपनी खुशी बटोर लो जहाँ से मिले।'[9]

इस उपन्यास में संस्कृतियों की टकराहट भी साफ सुनाई देती है। भारतीय समाज अगर स्त्रियों के लिए मापदंड निर्धारित करता है तो पुरुष के लिए भी वही मापदंड निर्धारित हों। जिस प्रकार आकाशगंगा का पति गगेंद्र उसे अमेरिका छोड़कर आया वैसे भारतीय समाज में कोई भी पुरुष अकारण या बिना तलाक के अपनी स्त्री का त्याग नहीं कर सकता। पूरा समाज और कानून न्याय को साथ लेकर उसके साथ खड़े होते हैं। वह स्त्री भी विवाहित होते हुए पर पुरुष के साथ संबंध स्थापित नहीं कर सकती, जैसा आकाशगंगा द्वारा किया गया। इसलिए जब वह एरिक के बच्चे की माँ बनने वाली होती है तो वह भारत से चली जाती है। उसे पता है कि भारत में स्त्री के लिए सीमा निर्धारित है और अमेरिका की संस्कृति उन्मुक्त है, वहाँ इन सबका कोई औचित्य नहीं है। उसके अमेरिका लौटने पर प्रवीन की पत्नी उसे उसके गर्भ में पल रहे बच्चे के लिए कहती है– 'तुम वहाँ से चली आई सही किया। बच्चे को अलग करने के विचार से दहल रही हो, यह भी स्वाभाविक है, पर तुम्हें प्रैक्टिकल होना पड़ेगा। ...आजकल की पीढ़ी गोरे काले में भेद नहीं करती, कितनी मिश्रित शादियाँ और बच्चे हो रहे हैं। मगर तुम सोचो तुम्हारा आधा इंडियन, आधा गोरा बच्चा हमारी तुम्हारी पीढ़ी कैसे स्वीकार करेगी?'[10] वह यह भी जानती है कि वह और एरिक एक नदी के दो अलग-अलग पाट हैं, उनका निबाह संभव नहीं है। पर फिर भी वह स्वयं के लिए जीना चाहती है वह कहती है 'नहीं एरिक कुछ भी हो मैं उनसे समझौता नहीं करूँगी। उन्होंने मुझे बहुत रौंदा, बहुत कुचला और अंत में फटे चीथड़े की तरह कूड़े-कचरे की तरह घर से निकाल कर फेंक दिया। मैं सम्मान से जीना चाहती हूँ, भले ही मुझे झाड़ू निकालने का काम करना पड़े।'[11]

इस प्रकार उषा प्रियम्वदा का यह उपन्यास नदी की तरह राह भटकी स्त्रियों को उचित-अनुचित और भविष्य में उसके परिणामों से अवगत करवाता है। वे जिस पुरुषों को अवलम्ब बना मुक्ति का मार्ग प्राप्त करना चाहती है वह मार्ग उसे आत्मसम्मान और अस्मिता प्रदान नही कर सकता। अगर वे ये सोचती हैं कि पुरुष बनना स्त्री मुक्ति है तो ये सर्वथा उचित नही है। जो असमानताएं प्रकृति प्रदत्त है और सृष्टि संचालन हेतु उचित भी उस कार्य में हम बाधा कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? परन्तु अनुचित यह है की पुरुष सत्ता द्वारा अनैतिक कार्यों में संलग्न होते हुए भी अपनी सत्ता के बल पर स्वयं को निर्दोष और स्वेच्छाचारी बना लिया गया है। और उसके अनैतिक कार्यों को स्त्री, सत्ता का माध्यम समझ बैठी है। उसे लगता है सड़कों पर रातों में घूमना, तंग वस्त्र पहनना, मयखानों में मधुपान करना, मेकअप करना, विज्ञापनों के माध्यम से अपना प्रदर्शन करना, शारीरिक सम्बन्धों में स्वतंत्रता आदि क्या इन सबसे स्त्री को स्वाभिमान और अपनी अस्मिता प्राप्त हो गई है? इन सबने तो स्त्री को और भी अधिक पुरुष के भोग का साधन बना दिया है। क्या इस मुक्ति की कामना स्त्री ने की थी? तो किस काम की यह मुक्ति। जिस पुरुषसत्ता से शोषित होकर स्त्री ने मुक्ति का मार्ग चुना, समानता के अधिकार की माँग की, नारी आन्दोलन किये उसी शोषण के मार्ग को अब उसने स्वयं चुन लिया है। स्त्री को अब समझना होगा कि जिस समानता को प्राप्त करने के लिए उसने कदम उठाए थे, उन्हें सही दिशा की ओर बढ़ायें, समानता के लिए संघर्ष करें अनैतिक समकक्षता के लिए नहीं। वरना नदी की भांति उच्छृंखल बन बहा ले जाएगी जीवन को और नहीं तो सदैव के लिए अपने जल की तृष्णा में प्यासी रह कर एक दिन मिल जाएगी अपने अस्तित्व को खो समुद्र में।

सन्दर्भ

1. वर्तमान साहित्य, कुंवर पाल सिंह-नमिता सिंह, संपादक– 'प्रवासी हिंदी लेखन तथा भारतीय हिंदी लेखन'– उषा राजे सक्सेना,

जनवरी-फरवरी 2006 पृष्ठ संख्या 62। **2.** नदी, उषा प्रियम्वदा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली वर्ष 2014 पृष्ठ संख्या 36। **3.** वही, पृष्ठ संख्या 31। **4.** वही, पृष्ठ संख्या 112। **5.**वही, पृष्ठ संख्या 163। **6.** वही, पृष्ठ संख्या 164। **7.** वही, पृष्ठ संख्या 147। **8.** वही, पृष्ठ संख्या 42-43। **9.** वही, पृष्ठ संख्या 126। **10.** वही, पृष्ठ संख्या 112। **11.** वही, पृष्ठ संख्या 44।

चंचल मेहरा, शोधार्थी, हिन्दी
श्री माणिक्यलाल वर्मा राजकीय महाविद्यालय, भीलवाड़ा। महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर। (राज.), मो. 7023664112
ईमेल- mehra.chanchal147@gmail.com,

❑❑

मेहरून्निसा परवेज की नारी-संवेदना

नारी स्वभावतः ही संवेदनशील व सहनशील है। वह माँ, बेटी, पत्नी, बहू, सहेली, बहन आदि रूपों में अपना कर्तव्य पूर्ण करती है उसका मातृत्त्व, उसका पत्नित्त्व, उसका सौन्दर्य, उदारता आदि संवेदनाओं के विभिन्न पहलुओं से गुजरते हुए साहित्य में अनेक रूपों में रूपायित हुआ है जो कहानी, नाटक, कविता, उपन्यास, संस्मरण, लेख, कॉलम आदि सभी के माध्यम से स्त्री-विमर्श के रूप में चर्चित है जिसमें स्त्री से सम्बन्धित व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी प्रकार की समस्याओं का वर्णन मिलता है।

मेहरून्निसा परवेज ने इन सभी में नारी जीवन में व्याप्त शोषण, यौन उत्पीड़न, भूख, घुटन, पीड़ा, तनाव, गरीबी तो कहीं आर्थिक रूप से परेशान नारी, तो कही रूढ़ियों से ग्रसित नारी, कहीं बांझपन के कारण छटपटाती, तो कहीं पर अनमेल विवाह के कारण दाम्पत्य जीवन में नीरसता, छुआछूत, आश्रमों व सरकारी दफ्तरों में होने वाले अत्याचार व व्याभिचार से ग्रसित नारी का यथार्थ चित्रण अपनी पत्रकारिता व लेखन के माध्यम से किया है।

स्वतन्त्रता के समय जन्मी मेहरून्निसा परवेज ने साहित्य व पत्रकारिता में विशिष्ट पहचान बनाई है। आधुनिक युग की महिला लेखिकाओं में अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। इन्होंने सम्पादकीयता गुण अपनी अम्मा से लिया जब वह इनसे पत्र लिखवाती तो वह बोलती और मेहरून्निसा परवेज से कहती तुझे जैसे अच्छा लगे उसे लिख दे, लेखिका कहती है कि अम्मा अभी जिन्दा होती तो कहती 'रहने दो इसे मत लिख, ऐसा कोई सम्पादकीय लिखता है।'[1] इससे प्रेरित होकर आज गद्य साहित्य की धनी लेखिका मेहरून्निसा परवेज 'समरलोक' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन कर रही हैं। उनके व्यावहारिक सम्पादकीय ज्ञान से यह पत्रिका लगातार ऊंचाइयों को प्राप्त कर रही है। आज 'समरलोक' ने हिन्दी की श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिकाओं में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। वे एक सफल सम्पादक की परम्परा को बखूबी निर्वाह कर सम्पादन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

'समरलोक' पत्रिका में मेहरून्निसा परवेज का सम्पादकीय 'आत्मदृष्टि' शीर्षक से प्रकाशित होता है। उसमें निष्पक्षता, दूरदर्शिता, गंभीर विचार दृष्टि, निडरता का सम्मिश्रित रूप सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक जैसे ज्वलंत विषयों पर अपने विचार रखती हैं। उनमें सामान्य जन को झकझोर देने की असीम ऊर्जा है। 'समरलोक' का आत्मदृष्टि सम्पादकीय सामान्य जन को दिशा निर्देश के लिए हिन्दी जगत में मील का पत्थर है।

लेखिका एक समाज सुधारक भी हैं। लेखिका ने जब बाछड़ा लड़कियों (वेश्याओं) के बारे में अपनी लेखनी चलाई तो उस समय उनको बहुत विरोध सहना पड़ा। वह एक प्रशासनिक अधिकारी की पत्नी थी। उस समय वेश्याओं का बस्ती में घूमना अच्छा नहीं माना जाता था लेकिन लेखिका उनका कष्ट देखकर चुप नहीं रह पायी। 'धर्मयुग' में लेखिका ने इनके बारे में लिखा। फिर सरकार ने कार्यवाही की और उन्हें कुछ सुविधाएँ प्रदान की। इसके बारे में लेखिका कहती हैं कि मैं समझती हूं कि हम अगर थोड़ा भी प्रयत्न करें तो बहुत कुछ कर सकते हैं। हमें चाहिए कि अगर हम थोड़े उँचे ओहदे पर हैं तो नीचे स्तर पर संघर्ष करती औरतों को हाथ पकड़कर आगे बढ़ायें। इस भावना को हमें भूलना चाहिए।[2]

पद्मश्री मेहरून्निसा परवेज एक संवेदनशील और मार्क्सवादी विचारों की लेखिका हैं, इन्होंने अपने लेखन का केन्द्रीय बिन्दु 'नारी' को रखा है। इन्होंने नारी जीवन में व्याप्त शोषण, यौन उत्पीड़न, धार्मिक असहिष्णुता, आर्थिक विपन्नता, धार्मिक विवाह से निर्मित समस्याएँ, प्रेम व संभोग का आधुनिक रूप विवाहेत्तर सम्बन्ध, बांझपन के कारण छटपटाती नारी, अविवाहित कामकाजी

नारी की त्रासदी, मध्यमवर्गीय नारी का संघर्ष, दाम्पत्य जीवन में नीरसता, नारी को भोग्या समझने की प्रवृति, बदलते स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, विधवा व परित्यक्त स्त्री की पीड़ा आदि ज्वलन्त समस्याओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है। मेहरून्निसा परवेज ने अपने साहित्य में समाज में व्याप्त समस्याओं को उठाकर नवीन दृष्टि का परिचय दिया। मेहरू न्निसा परवेज ने परम्परागत मूल्यों को त्यागकर प्राचीन और आधुनिक मूल्यों में फंसी नारी के विचारों को 'आँखों की दहलीज' की तालिया और जमीला, 'उसका घर' की ऐलमा और रेशमा, 'अकेला पलाश' की तहमीना, 'कोरजा' की कम्मो, नसीमा, रब्बो की 'समरांगण', लता, सुहासनी, पृथा तथा 'पासंग' की कन्नी, बानोआपा, कुलसुम आदि पात्रों के माध्यम से चित्रित कर नैतिक मानवमूल्यों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता हैं।

इन्होंने प्रथम कहानी 1963 में उन्नीस वर्ष की उम्र में 'जंगली हिरणी' लिखी जो धर्मयुग पत्रिका में छपी जिसमें एक आदिवासी लड़की की व्यथा है। यह एक नायिका प्रधान कहानी है। फिर इन्होंने 1969 में प्रथम उपन्यास 'आँखों की दहलीज' लिखा। यह भी एक नायिका प्रधान उपन्यास है जिसमें तालिया व जमीला की कहानी है। इससे स्पष्ट होता है कि यह शुरुआत से ही नारी उद्धारक रही हैं।

श्रीमती मेहरून्निसा परवेज का लेखन जीवन की समग्रता का प्रस्तुतीकरण लेकर सामने आता है। यह आधुनिक युग की सृजनशील लेखिका हैं जिन्होंने कहानी, उपन्यास, लेख, शोध, कविता संस्मरण आदि लिखे हैं और इन सभी में अनुभूति को आधार बनाया है पात्र चाहे कोई भी हो, भोगा उन्होंने ही है अर्थात् अनुभूति प्रधान रचनाएँ हैं। इनकी रचनाओं में नारी जीवन की विसंगतियों का यथार्थ चित्रण मिलता है। इन्होंने अपने उपन्यासों में नारी शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई है। इन्होंने नारी जीवन में आने वाली समस्याओं को उपन्यासों का विषय बनाया है। 'उसका घर' उपन्यास में लेखिका ने तलाक व उसके बाद के जीवन में आने वाली समस्याओं को उठाया है। गलती चाहे महिला की हो या पुरुष की सहना महिला को ही है। पति, पत्नी को छोड़कर दूसरा विवाह करता है तो समाज में उसकी आलोचना नहीं होती है। लेकिन महिला ऐसा करती है तो उसे अपराध समझा जाता है। 'कोरजा' उपन्यास में मुस्लिम मध्यमवर्गीय नारियों की व्यथा का चित्रण किया है। अरमान बी आर्थिक व शारीरिक दृष्टि से परेशान थी। रहमान खां अन्य स्त्रियों के साथ विलासी जीवन बिताता था। आदतन वह बेटी पर भी गलत नजर रखता था। 'अरमान बी बख्त की मार खायी अनुभवी औरत थी। 'बाप का प्रेम नहीं उमड़ा है बल्कि यह मक्कार आदमी की वहशी आँखों का पानी था, जो घर में फुदकती नये परों की फड़फड़ाती चिड़िया को एक बार में दबोच लेना चाहता था'[3] और फातिमा की शादी करा देती है लेकिन यह अनमेल विवाह था जिससे फातिमा खुश नहीं थी। उपन्यास की पात्र साजो खाला जो एक विधवा है वह आर्थिक दृष्टि से बहुत कमजोर हो जाने के कारण, पिता समान मकान मालिक जुम्मन घर खाली नहीं कराने की एक शर्त रखता है कि साजो रात को मेरे घर आयेगी। साजो दुःखी भाव से कहती है 'अम्मा वह बूढ़ा मुझे नंगी करके सारी रात खड़ा रखता है मेरे बदन को झिंझोड़ता है मैं विरोध नहीं करूँ इसके लिए मुझे खम्भे से बाँध देता हैं।[4]

'अकेला पलाश' में अनमेल विवाह से उपजी नारी की दैहिक वासना पूर्ति की समस्या, छुआछूत, आश्रम व अस्पतालों में होने वाले नारी अत्याचारों, सरकारी दफ्तरों में होने वाले नारी यौन उत्पीड़न की समस्याओं का चित्रण किया गया है। इसमें एक पात्र का विधवा विवाह करवाकर नारी को महत्ता भी प्रदान की है। एक अन्तर्धर्मीय विवाह करवाकर हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव का परिचय दिया है। 'समरांगण' एक पुरुष प्रधान उपन्यास होते हुए भी नारी केंद्रित उपन्यास है जिसमें सुहासनी, पृथा, बूँदाजान, लता, माधवी, गंगा, कटोरीबाई आदि स्त्री पात्रों के माध्यम से समाज में व्याप्त समस्याओं को उठाया है। एक स्त्री यौन उत्पीड़न से पीड़ित तो दूसरी सन्तान नहीं होने से दुःखी तो कहीं पति का प्रेम न मिलने से दुःखी है तो कहीं और समस्या है। 'पासंग' में भी लेखिका ने औरत की व्यथा, दुःख, हताशा तथा उसके संघर्ष की कथा है। इस उपन्यास में कनी,

कुलसुम, बानोआपा, दादी, जैनमदादी, कन्नी की अम्मा आदि के माध्यम से नारी जीवन में आने वाली समस्याओं का चित्रण किया है।

मेहरून्निसा परवेज अनुभूतियों का अक्षय भण्डार हैं। उन्होंने भोगी हुई अनुभूतियों का कथा साहित्य में चित्रण किया है। इनके 15 कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी सभी कहानियों में मध्यमवर्गीय समाज व आदिवासी नारियों की दुर्दशा का वर्णन मिलता है, विशेष रूप में नारी मन की पीड़ा, कुण्ठा, तनाव, स्त्री-पुरुष के संबंध, नई व पुरानी पीढ़ी के बीच का फासला, बदलते जीवन मूल्य, पारिवारिक व सामाजिक समस्याओं से झूझती नारी, इससे उत्पन्न तनाव, आदिवासी नारी का संघर्ष, द्वंद्व, मध्यमवर्गीय मुस्लिम स्त्री का यथार्थ चित्रण है।

मेहरून्निसा परवेज ने साहित्य को सामाजिक और सांस्कृतिक प्रकिया मानकर व्यक्तिगत अनुभवों और सामाजिक प्रामाणिकता के बीच उसमें जीवन और जगत के तमाम चित्रों को संजोया है। आधुनिक नारी जीवन के अनुभवों और वेदना को समेटे उनकी रचनाएं सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आग्रह के साथ मानवता से जुड़ती हैं। 'पासंग' उपन्यास में बानोआपा की जिन्दगी स्वतन्त्रता के पश्चात हिन्दू मुस्लिम दंगों व भारत पाकिस्तान के पलायन से खराब हो जाती है। 'लड़के के घर के लोग तो पाकिस्तान काफिले के साथ चले गये, नदीम भी उन्हीं के साथ चला गया उसका कोई अता-पता नही है।'[5] फिर बानोआपा बिन ब्याही माँ बन जाती है जिसका प्रतिफल जीवन भर मिलता रहता है।

मेहरून्निसा परवेज ने अपने लेखन का केन्द्रीय बिन्दु नारी को बनाया। अपने उपन्यासों व कहानियों में नारी जीवन की वेदना व आर्थिक सामाजिक, दृष्टि से झूझती नारी का चित्रण किया। इन्होंने अपने पात्रों में सृजनशीलता का सचित्र वर्णन किया है क्योंकि वह अपने आप को अगली परिस्थितियों के अनुसार ढलने में सफल दिखाया है। मेहरून्निसा परवेज ने शोषित, पीड़ित बस्तर जिले के आदिवासियों पर तथा उनकी समस्याओं पर लेख लिखकर जनजागृति लाकर उनकी सहायता की। मेहरून्निसा परवेज 'नई दुनिया' नामक अखबार में महिला स्तम्भ की सम्पादिका के रूप में भी कार्यरत हैं। मेहरून्निसा परवेज एक परोपकारी, स्नेही, सादगी प्रिय, संस्कृति को मानने वाली, संवेदनशील, अध्ययनशील तथा अत्याचारों के प्रति आक्रोश करने वाली महिला हैं।

मेहरू न्निसा परवेज बहुआयामी व्यक्तित्व की धनी हैं। अपने स्वर्गीय पुत्र समर के नाम से उन्होंने समर ट्रस्ट की स्थापना की उससे उभरते युवा लेखकों को सुअवसर देकर श्रेष्ठ लेखक को ग्यारह हजार रुपये की राशि देकर समर स्मृति पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है। मेहरू न्निसा परवेज के सम्पादकीय आलेख 'आत्म दृष्टि' शीर्षक से प्रकाशित होते है। इनकी कहानियाँ 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और 'सारिका' में लगातार छपती रही। 'रविवार साप्ताहिक' तथा 'नई दुनिया' दैनिक में नियमित रूप से स्तंभ भी लिखती हैं। मेहरून्निसा परवेज व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक तथा साहित्यिक जीवन तक साम्प्रदायिक सद्‌भाव का संदेश देती रही हैं। इनकी सृजनशीलता के कारण 'अखिल भारतीय महाराज वीरसिंह जूदेव' राष्ट्रीय पुरस्कार, सुभद्रा कुमारी चौहान पुरस्कार, साहित्य भूषण सम्मान, भारत भूषण सम्मान, रामेश्वर गुरू पुरस्कार, 2005 में राष्ट्रपति द्वारा पद्मश्री से नवाजा गया।

संदर्भ

1. मेहरू न्निसा परवेज-आत्मदृष्टि, समरलोक त्रैमासिक पत्रिका, शाहपुरा भोपाल मध्यप्रदेश, जुलाई-सितम्बर 2002 पृष्ठ सं.2। **2.** मेहरून्निसा परवेज-शोध ग्रन्थ, (बाछड़ा जाति की लड़कियों वेश्यावृति से मुक्ति हेतु) धर्मयुग की धर्मवीर भारती, मुम्बई, पृष्ठ सं.27। **3.** मेहरून्निसा परवेज-कोरजा, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली 1977, पृष्ठ संख्या 20। **4.** वही-पृष्ठ संख्या 72। **5.**मेहरून्निसा परवेज-पासंग, वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 2004, पृष्ठ सं.86। **पत्रिकाएँ–** 1. तिरूमिश पत्रिका-तिरूमिशि प्रकाशन भोपाल मध्यप्रदेश। **2.**साहित्य कुंज पत्रिका-सुमन कुमार घई प्रकाशन आगरा, उत्तर प्रदेश। **3.** धर्मयुग पत्रिका-धर्मवीर भारती, टाईम्स ऑफ इंण्डिया समूह प्रकाशन मुम्बई। **4.** वाङ्गमय पत्रिका - डॉ. फिरोज अहमद, प्रकाशन कानपुर, उत्तर प्रदेश। **5.** नया ज्ञानोदय पत्रिका-लीलाधर मंडलोई प्रकाशन, नई दिल्ली।

❑❑

सुश्री दुर्गावती, शोधार्थी–
रा.माणिक्य लाल वर्मा महाविद्यालय, भीलवाड़ा।
3/42 साकेत नगर, हाउसिंग बोर्ड,
ब्यावर-305901, जिला-अजमेर (राज.)
मो. 9251718194, durgavati668@gmail.com

कश्मीर के प्राचीन मंदिर

शैव मंदिर :- 1. शिव मंदिर, पुलवामा-मंदिर के द्वार के ऊपर चतुर्भुज शिव तराशे हुए थे। 2. शिव मंदिर, पंडरेथान, श्रीनगर-मंदिर के 3 कलश थे। कलश के नीचे की दीवार पर भी शिव एवं नाग बने थे। 3. शंकराचार्य मंदिर, श्रीनगर-शिव लिंग की स्थापना आदि शंकराचार्य ने की थी। 4.अमरनाथ-गुफा में बर्फ से निर्मित शिव लिंग कुछ समय तक रहता है, अनेक भक्त यात्रा पर जाते हैं, जान जोखिम में डालकर भी। 5. कानलीबाग, बारामुला-यहां 3.0-3.85 मीटर के दो लिंग देखे जा सकते हैं। 6. दुर्गा-नाग मंदिर, डलगेट श्रीनगर- यहां भी शिव लिंग हैं।

शाक्त मंदिर :-1. सारिका देवी, श्रीनगर से कुछ दूरी पर स्थित है। यहां एक बड़ी शिला को पूजा जाता है। लोगों का कहना है कि समय-समय पर इसके ऊपर श्रीयंत्र उदित होता है, भाग्यवान ही दर्शन पाते हैं। 2. भवानी मंदिर, अनन्तनाग– यहां खीर का भोग लगाने की परम्परा है, अतः इसे 'खीर भवानी' के नाम से जाना जाता है। 3. वैष्णव देवी–कटरा (जम्मू) से पैदल अथवा खच्चर पर लम्बी यात्रा करनी होती है। गुफा में वैष्णव देवी, महालक्ष्मी, महाकाली की छोटी मूर्तियां हैं। 4. दुर्गा-नाग मंदिर– यहां दुर्गा मूर्ति के अतिरिक्त नाग मूर्ति एवं शिव लिंग भी हैं। परिसर में एक कुआं भी है, जहां भक्त मन्नत मांगते हैं। 5. शारदा पीठ (अब पीओके में), 1870 तक भी यह सही हालत में था, अब खंडहर है। कथानुसार यहां पर 4 द्वार होते थे, जो व्यक्ति शास्त्रार्थ में जीत कर चौथे द्वार से बाहर निकलने में सक्षम होता, उसको सिंहासन पर बैठाकर सम्मानित किया जाता था। आदि शंकराचार्य भी यहां पहुंचे थे।

अन्य मंदिर :- 1. अवंतिस्वामी, पुलवामा– इसे राजा ललितादित्य ने बनवाया था, अब खंडहर है। 2. मार्तण्ड सूर्य मंदिर, अनन्तनाग- अब खंडहर है। 3. रघुनाथ मंदिर, मीरपुर (अब पीओके)। 4. प्राचीन रामकोट (फोर्ट), अब पीओके में है। ▫▫

वृंदावन का प्राचीनतम मंदिर

वृंदावन में कहते हैं राधा-मदनगोपाल मंदिर का निर्माण श्रीकृष्ण के एक वंशज ने करवाया था, कालांतर में मंदिर क्षतिग्रस्त हुआ, मूर्ति सेवा-अर्चना हेतु भक्तों को प्राप्त होती रही। एक समय इनकी सेवा एक चौबिन करती थीं, जब वह वृद्ध हो गई तो उन्होंने मूर्ति सनातन गोस्वामी को सौंप दी। गोस्वामी भिक्षा से अपना निर्वाह करते थे, उसी से ठाकुरजी को भोग (रोटी और नमक का) लगता था। वे एक झौपड़ी में रहते थे। कहते हैं ठाकुरजी की कृपा से सौदागर रामदास का फंसा जहाज के यमुना में से निकलने के उपरांत सौदागर को स्वप्न में मंदिर बनवाने का आदेश हुआ था, उसका वह जहाज चमत्कारी ढंग से स्वर्ण एवं कपूर से अट गया था। रामदास ने एक भव्य एवं सुन्दर मंदिर का निर्माण जयपुर के गुलाबी पत्थर से वर्ष 1585 में करवाया, जिसे रामदास कपूर के नाम से संबोधित किया जाने लगा। इसकी नक्काशी किसी विशेष पद्धति से की गई एवं देखने लायक है। अत्यंत ऊंचे मंदिर में मदनगोपाल, राधा एवं सखी ललिता की मूर्तियां रखी गई। औरंगजेब के आक्रमण से पहले इन्हें जयपुर के महाराजा को सौंप दिया गया, इस संबंध में महाराजा को स्वप्न हुआ था। ये मूर्तियां वर्तमान में करौली (राज.) के एक मंदिर में स्थापित हैं, वृंदावन में नई मूर्तियां बनवाकर रखी गई। प्राचीन होने पर भी मंदिर अच्छी अवस्था में है। उस समय यमुना मंदिर के समीप ही बहती थी। इस मंदिर में केवल रोटी और नमक का भोग लगता है। वृंदावन के बहुला-वन में एक सरोवर के तट पर बहुला नामक गौमाता का मंदिर है जो भारत में एकमात्र है। ▫▫

एक रहस्यमय शिव मंदिर

यह प्राचीन मंदिर कुमड़ा पहाड़ी, टिटलागढ़ ओडिशा में स्थित है। इस क्षेत्र में गर्मी अत्यधिक होने पर भी मंदिर के भीतर अत्यंत शीतलता का अनुभव होता है, यहां तक कि कभी-कभी पुजारी को कम्बल ओढ़ना पड़ जाता है। इसका कारण पता नहीं चल सका है। मान्यता है कि यह स्थान अदृश्य रूप से कैलाश पर्वत से जुड़ा है, इस कारण से इसे ओडिशा का 'कैलाश' कहा जाता है। ▫▫

जितेंद्रनाथ जौहरी
ई-234, सैक्टर-14, हिरण मगरी,
उदयपुर-313002, मो. 8003188087

'वैचारिकी' का हर अंक विचारकों के लिए गहन मंथन लेकर आता है। इसमें प्रकाशित लेख बड़े शोधपूर्ण होते हैं, शोधार्थियों के लिए बहुत सारी जानकारी ऐसी होती है जो शोध के कई द्वार खोलती है।

जुलाई-अगस्त 2023 के अंक के कुछ आलेखों का जिक्र करना चाहूंगा। डॉ. आनन्द शर्मा ने 'बादशाह अकबर का अजेय सिपहसालार : राजा मानसिंह' शीर्षक आलेख में 'राजा मानसिंह की बुआ हीराकंवर के अकबर से हुए विवाह के कारण मुगल बादशाह से रिश्तेदारी स्वाभाविक रूप से बन गई थी' लिखा किन्तु उन्होंने मानसिंह के अनूठे योगदान का जिक्र नहीं किया।

राजा मानसिंह ने एक भी राजपूत बाला को अकबर के पास नहीं जाने दी। राजपूत बाला की बजाय या तो पासवान की बाई या फिर दासी की लड़की को ही भेजी। इतिहासकारों ने इस रहस्य को भी उद्घाटित नहीं किया कि मानसिंह की बहिन जोधाबाई का विवाह अकबर से नहीं हुआ। हां, दिखावटी रूप में तो हुआ। अकबर बड़े शाही ठाठ से बरात लेकर आया। सात दिन ठहरी बरात का शाही स्वागत-सत्कार किया गया। दहेज में अनापशनाप धन-दौलत, हीरे-जवाहरात और लाव लश्कर भी दिये गये। यहां तक कि एक सौ दास और सत्तावन दासियां दी गई परन्तु न तो जोधाबाई अकबर को परणाई गई और न विदाई के समय अकबर के साथ ही भेजी गई।

यह विवाह हुआ पानबाई से जो जोधाबाई की हमउम्र थी। दिखने में एक जैसी। यह दीवान वीरमल की पुत्री थी। इसकी माता का नाम दीवालीबाई था। राजा मानसिंह अपना खून अकबर को नहीं सौंपना चाहता था। इसके लिए दीवान दम्पत्ति से गुप्त मंत्रणा कर ली गई थी। दोनों की रजामंदी से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ। सारा काम बड़े व्यवस्थित ढंग से हुआ। सब तरफ जोधाबाई-ही-जोधाबाई दिखाई गई। मण्डप तक भी जोधाबाई ले जाई गई परन्तु ऐन वक्त शादी के समय पानबाई हाजिर कर दी गई। काजी मुल्ला द्वारा निकाह और पंडित द्वारा हिन्दू रीति से विवाह कराया गया। यह दिन वि.सं. 1564, फाल्गुन शुक्ला अष्टमी, मंगलवार संध्या का था।

पानबाई की डोली विदा करते ही रातोंरात मानसिंह ने अपने सामन्त हिम्मतसिंह और उसकी पत्नी मूलीबाई को जोधाबाई के धर्म के माता-पिता बनाकर मेड़ता के राव दूदा के पास भेज दिया। राव दूदा ने उन्हें ठिकानापति बना कुड़की भेज दिया जहां जोधाबाई का नाम जगतकुंवर कर दिया। कुड़की पहुंचने पर राव दूदा ने अपने पुत्र रतनसिंह का विवाह जगतकुंवर से कर दिया। यह रतनसिंह का पांचवां विवाह था। पूर्व की चारों पत्नियों से कोई संतान नहीं हुई। एक वर्ष बाद जगतकुंवर ने एक बालिका को जन्म दिया जिसका नाम मीरां रखा गया। यह वही मीरां थी जिसका विवाह चित्तौड़ के राजकुंवर भोजराज से हुआ। भोजराज शिव भक्त थे तो मीरां कृष्ण भक्त।

डॉ. शर्माजी ने प्रसिद्ध हल्दीघाटी युद्ध में महाराणा प्रताप का परास्त होना लिखा जबकि इतिहासकार इसे नहीं मानकर प्रताप की विजय दिखाते हैं और वहां भी मानसिंह प्रताप की किसी प्रकार सहायता ही करते हैं। इसीलिए अकबर उन पर नाराजगी जताता है।

श्री महेश पुरोहित का 'डूंगरपुर का मूर्ति-कला उद्योग' गहन अध्ययन एवं अनुसंधान लिए है। द्वारिका के द्वारिकाधीश की प्रतिमा यहीं के देवजी सोमपुरा ने बनाई। देवजी की और भी कई मूर्तियां बनाई हुई हैं। देवजी के लड़के श्यामजी ने शामलाजी में कृष्ण प्रतिमा बनाई। श्यामजी के पुत्र नानक्या

ने श्रीनाथद्वारा के श्रीनाथजी की मूर्ति बनाई। यह नानजी नाम से अधिक जाना गया जो अविवाहित ही रहा।

डॉ. अनुपमा तिवारी का आलेख आन्ध्रप्रदेश की सांस्कृतिक संरचना में संस्कृति पक्ष को बहुत कम छूकर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ही अधिक दर्शाया गया है। लोकगीत के सन्दर्भ में उन्होंने दो प्रकार के लोकगीतों का उल्लेख करते प्रथम वर्ग में अनपढ़-अशिक्षित जनता, श्रमिकों द्वारा गाये जाने वाले तथा दूसरे वर्ग में रचनाकारों द्वारा रचित लोकगीत बताया। उनकी दोनों ही बातें विद्वानों द्वारा अस्वीकार्य सिद्ध हो चुकी हैं। उनका यह कथन बहुत पहले के विद्वानों का रहा जो कइयों द्वारा कालान्तर में अमान्य सिद्ध हो चुका है। अगर ऐसा है तो देश के प्रत्येक विश्वविद्यालय में लोकसाहित्य अर्थात् मौखिक साहित्य, कण्ठासीन अलिखित साहित्य पर शोध का विषय नहीं बनता। हमारी लिखित जितना भी प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-सम्पदा है वह उसी लोक की है जो डिग्रीधारी नहीं है पर परम्पराशील परिपक्वता लिये है। सारे त्यौहार-उत्सव, व्रतानुष्ठान, रीतिरिवाज जिनके बगैर हमारा काम नहीं चलता, मौखिक वाणी से ही तो सम्बद्ध है। सारा ज्ञान लिखित भी तो नहीं हो सकता।

अनुपमाजी ने रचनाकारों द्वारा रचित रचनाओं को भी लोकगीत कहकर गीत और लोकगीत का अन्तर ही समाप्त कर दिया। सच तो यह है कि लोकगीत किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं होते। वे समूह द्वारा रचित, समूह द्वारा संरक्षित, समूह की ही धरोहर होते हैं। यदि ऐसा होता तो कवियों द्वारा लिखे लोकप्रिय गीत और सिनेमा के गीत भी लोकगीत ही कहे जाते। पिछले वर्षों में इन पर बहुत लिखा जा चुका है। ▫▫

—डॉ. महेन्द्र भानावत, 904, आर्ची आर्केड, राम-लक्ष्मण वाटिका के पास, न्यू भूपालपुरा, उदयपुर-313001, मो. 9351609040

वैचारिकी के जुलाई-अगस्त 2023 अंक में श्री रामशरण युयुत्सुजी का सरस्वती-विषयक लेख पढ़ा। पाठकों को स्मरण होगा कि वैचारिकी के अप्रैल 2018 अंक में मेरा 'सरस्वती की खोज' शीर्षक प्रत्यक्ष सर्वेक्षित शोधपूर्ण आलेख प्रकाशित हुआ था जिसमें मैंने बताया था कि सरस्वती कभी लुप्त नहीं हुई, केवल पर्वतावरोध के कारण इसका पुराना मार्ग बदल गया। वस्तुतः हिमगिरि के चन्द्रसरोवर ग्लेशियर से निकली पब्बर (प्रवरा) नदी ही महाभारत कालीन सरस्वती है, जो अथाह जल लेकर चिड़गांव से हाटकोटी अथवा हाटकेश्वरी मंदिर तक, 38 कि.मी. निर्बाध गति से बहती है।

इसी मंदिर के पश्चिमी छोर पर एक विशाल चट्टान ने सरस्वती का पश्चिमी मार्ग रोक दिया और वह दिक्षिणगामिनी होकर नोन नामक स्थान और नोन के साथ ही पॉवटा-साहब में यमुना में मिल गई तथा अपना सारा जल यमुना को दे रही है। मैंने यह भी लिखा है कि यदि हाटकेश्वरी मंदिर से टूटीकंडी तक सुरंग बना दी जाए तथा पब्बर नदी का दक्षिणी प्रवाह रोक दिया जाए तो निश्चय ही प्राचीन वैदिक सरस्वती कुरुक्षेत्र (हरियाणा), राजस्थान तथा गुजरात का अपना प्राचीन मार्ग बना लेगी। यही सरस्वती निश्चय ही भारत की पश्चिमगामिनी पवित्र नदी है जिसका नाम-यश पर्सिया (ईरान) तक जा पहुंचा था। वहां के सम्राट दाय के शुषा नामक स्थान से प्राप्त एक शिला-लेख में कहा गया है कि राजभवन के लिए हाथी-दांत और चंदन भारत से, सरस्वती-स्रोत द्वारा मंगाये गये थे। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि ईरान की सरस्वती भी, ईराक के दजला-फरात दरिया की तरह अरब सागर में गिरती थी। भारत से जलपोत अरब सागर से सरस्वती के मुहाने पर तथा फिर सरस्वती के द्वारा शुषा तक पहुंचा होगा। एक अन्य सरस्वती नदी बदरिकाश्रम में भी है जिसके पावन तट पर व्यास गुफा में महर्षि कृष्णद्वैपायन ने पुराणों की रचना की थी। युयुत्सुजी ने बार-बार थानेसर को स्थाणेश्वर लिखा है जो गलत है, वस्तुतः संस्कृत शब्द 'स्थाण्वीश्वर' है। स्थाणु भगवान शिव का एक नाम है। स्थाण्वीश्वर मंदिर अभी भी अपने स्थान पर है जो सम्राट हर्ष के राज्य में था। ▫▫

प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र (पद्मश्री)
सनराइज विला, लोअर समर हिल,
शिमला-171005, मो. 9418041537
ई-मेलः abhirajr96@gmail.com

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी. आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक- डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

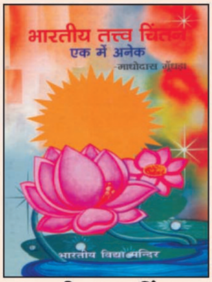

भारतीय तत्त्व चिंतन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 190

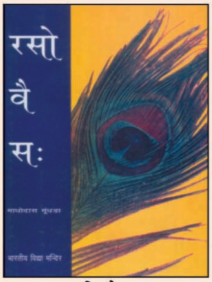

रसो वै सः
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 165

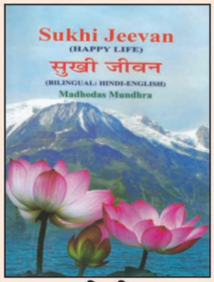

सुखी जीवन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 275/- पृ. सं. 216

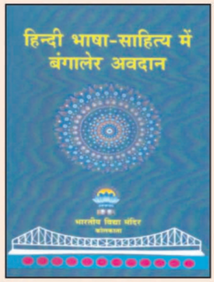

हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 800/- पृ. सं. 352

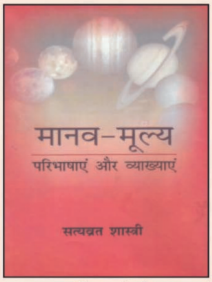

मानव मूल्य परिभाषाएं और व्याख्याएं
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 550/- पृ. सं. 304

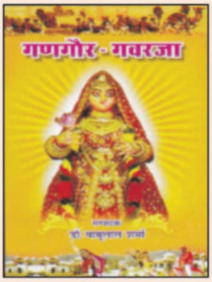

गणगौर-गवरजा
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 400/- पृ. सं. 264

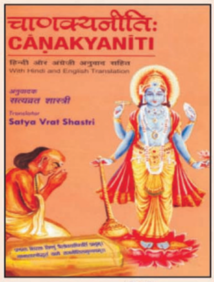

चाणक्यनीतिः
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 295/- पृ.सं. 194

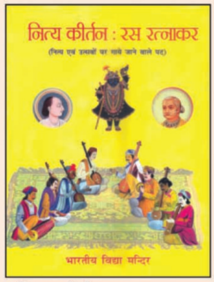

नित्य कीर्तन : रस रत्नाकर
मूल्य 900/-

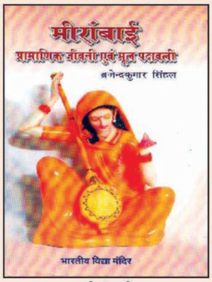

मीरांबाई
प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली
संपा. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल
मूल्य 900/- पृ.सं. 584

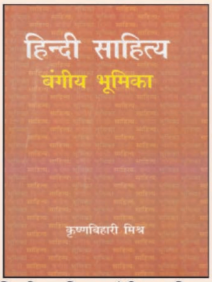

हिन्दी साहित्य बंगीय भूमिका
कृष्णबिहारी मिश्र
मूल्य 750/- पृ.सं. 551

श्रीरामकथा की कथा (प्रथम खण्ड)
आचार्य सोहनलाल रामरंग
मूल्य 600/- पृ. सं. 379

प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म
डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत
मूल्य 550/- पृ. सं. 287

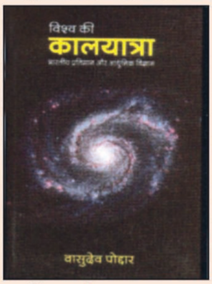

विश्व की कालयात्रा
डॉ. वासुदेव पोद्दार
मूल्य 700/- पृ. सं. 409

राजस्थान में भागवत धर्म
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 900/- पृ. सं. 468

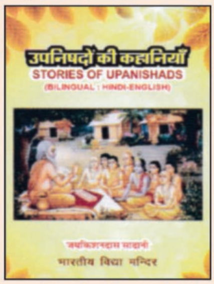

उपनिषदों की कहानियाँ
जयकिशन दास सदानी
मूल्य 400/- पृ. सं. 208

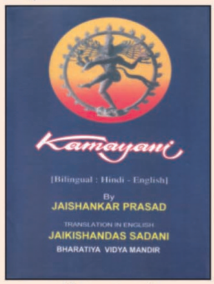

Kamayani
Tr. Jaikishandas Sadani
Price : Rs. 900/- Pages : 477

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें

शंकरलाल सोमानी, सिम्पलेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

VAICHARIKI Bi-Monthly • ₹50/- Nov-Dec 2023 R.N.I. No. 22298/71

From	TO
BHARATIYA VIDYA MANDIR 12/1, Nellie Sengupta Sarani Kolkata - 700087 (W.B.)	

G.D.M.
PUBLIC SCHOOL
Near, Govt. DIET Office, Pugal Road, Bikaner

Admission Open for Nursery to 10th

Session - 2023-24

G.D.M. Public School
Pugal Road, DIET. Office, Bikaner
(Rajsthan) Pin - 334004
E-mail : gdmpublicschool1342@gmail.com

M. 7977715540

• वैचारिकी •

नवंबर-दिसंबर 2023 भाग 39 अंक 6